

श्रीसोमप्रभाचार्यविरचित

सूक्तिमुक्तावली



संस्कृतटीकाकार —
श्रीहर्षकीर्तिसूरिः



सम्पादक —
परमपूज्य १०८ श्री अजितसागरजी महाराज



प्रकाशक
श्री शान्ति वीर दि० जैन संस्थान
शान्ति वीर नगर, श्रीमहावीरजी

द्रव्य दाता —
श्री नन्दलालजी मागीलालजी
डीमापुर (नागालेण्ड)



प्रथमावृत्ति १०००	कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा वी॰ नि॰ स॰ २४६८	मूल्य स्वाध्याय

प्राप्तिस्थान—
श्री शान्ति वीर नगर
श्रीमहावीरजी (राज॰)



मुद्रक —
नेमीचन्द बाकलीवाल
कमल प्रिन्टर्स
मदनगंज-किशनगढ़

आद्य वक्तव्य

दिवंगत आचार्य प्रवर श्री १०८ श्री शिवसागरजी महाराज के सुशिष्य वर्तमान संघनायक परमपूज्य आचार्यकल्प १०८ श्री श्रुतसागरजी सघस्थ १०८ श्री अजितसागरजी महाराज निरन्तर ज्ञानाराधना में तल्लीन रहते हैं। इन्हें सुभाषित श्लोकों का संकलन बहुत प्रिय है इसीके फलस्वरूप उनके द्वारा संकलित सुभाषित मञ्जरी के दो भाग और सुभाषितावली ये तीन ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। तत्पश्चात् १०८ श्री अजितसागरजी महाराज का ध्यान सूक्तिमुक्तावली जिसका दूसरा नाम सिन्दूरप्रकर पर गया। यह लघु काय ग्रन्थ होते हुये भी बहुत ही लोकप्रिय नीति काव्य है, अपनी सरस और सरल रचना के द्वारा संस्कृत साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है। इसमें एकसौ सुभाषित श्लोकों का संग्रह है, जिसमें धर्मोपदेश, तीर्थंकर भक्ति, जिनमतभक्ति, गुरुभक्ति, संघभक्ति, पंच पापों का त्याग, चतु कषायके दोषों का कथन, गुणिजन सङ्गति, इन्द्रियदमन, दानफल, तपफल इत्यादि अनेक विषयों पर हृदयग्राही वर्णन है। यह रचना सरल, सरस तथा सुबोध है। इन्हीं श्लोकों के आधार पर हिन्दी जैन कवि श्री बनारसीदासजी द्वारा हिन्दी पद्यानुवाद भी रचे गये हैं। जो कई वर्ष पूर्व मूलसहित प्रकाशित हो चुका है। इस मूल ग्रन्थ क कर्त्ता श्री सोमप्रभाचार्य हैं। ये अपने समय के सुप्रतिष्ठित विद्वान थे, धर्म शास्त्रों का तलस्पर्शी अध्ययन किया था, तर्क शास्त्र में ये बहुत पटु थे, काव्य रचना में भी इनकी अच्छी गति थी, व्याख्यानकला में ये अति निपुण थे।

प्रस्तुत ग्रन्थ की संस्कृत टीका के रचयिता श्री हर्षकीर्त्ति सूरि हैं। आप वैद्यक, ज्योतिष छन्द, व्याकरण और काव्य आदि अनेक

विषयों के सुप्रसिद्ध विद्वान थे। अब प्रस्तुत ग्रन्थ को परम पूज्य १०८ श्री अजितसागरजी महाराज द्वारा जन साधारण जीवों के सदुपयोगी ज्ञान सम्पादन कर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है। आशा है पाठकगण इससे यथार्थ लाभ उठायेंगे।

इसके प्रकाशन में श्री नदलालजी मांगीलालजी पोरट डीमापुर (नागालेण्ड) निवासी ने आर्थिक सहयोग देकर अपनी चञ्चल लक्ष्मी का सदुपयोग किया है, एतदर्थ उन्हें शतश धन्यवाद है।

ब्र लाडमल
अधिष्ठाता श्री शांतिवीर गुरुकुल, श्री महावीरजी

अथ समर्थयति ?

सोमप्रभाचार्यप्रभा च यन्न पुंसां तम'पङ्कमपाकरोति ।
तदप्यमुष्मिन्नुपदेशलेशे निशम्यमानेऽनिशमेति नाश ॥९९॥

व्याख्या—सोमप्रभा च द्रकांतश्च पुन अर्यमभा अर्यमा सूर्यो भा प्रभा सूयप्रभाऽपि पु सा (जीवाना) यत्तम पङ्क अ धकारकर्दम न अपाकरोति न दूरीकरोति। तदपि तादृशमपि तम पङ्क अज्ञानपाप अमुष्मिन् उपदेशलेशे (धर्मोपदेशलवेपि) निशम्यमाने श्रूयमाणे सति अनिश निर तर नाश क्षय एति याति। एतच्छ्रवणाचम अज्ञान पाप च याति। अत्र सोमप्रभाचार्य इति ग्रन्थकृता स्वनामापि सूचित ॥ ९९ ॥ इति पाठा तरम्।

जिनस्तुतिः

त्रिभुवनगुरो ! जिनेश्वर परमानन्दैककारण कुरुष्व ।
मयि किङ्करेऽत्र करुणा यथा तथा जायते मुक्तिः ॥१॥

निर्विण्णोऽहं नितरामर्हन् बहुदुःखया भवस्थित्या ।
अपुनर्भवाय भवहर कुरु करुणामत्र मयि दीने ॥२॥

उद्धर मा पतितमतो विषमाद्भवकूपतः कृपां कृत्वा ।
अर्हन्नलमुद्धरणे त्वमसीति पुनः पुनर्वच्मि ॥३॥

त्वं कारुणिकः स्वामी त्वमेव शरणं जिनेश तेनाऽहम् ।
मोहरिपुदलितमानं पूत्करणं तव पुरः कुर्वे ॥४॥

ग्रामपतेरपि करुणा परेण केनाप्युपद्रुते पुंसि ।
जगतां प्रभो ! न किं तव जिन मयि खलु कर्मभिः प्रहते ॥५॥

अपहर मम जन्म दयां कृत्वा चेत्येकवचसि वक्तव्यं ।
तेनातिदग्ध इति मे देव बभूव प्रलापित्वम् ॥६॥

तव जिन चरणाब्जयुगं करुणामृतशीतलं यावत् ।
संसारतापतप्तः करोमि हृदि तावदेव सुखी ॥७॥

जगदेकशरण ! भगवन् ! नौमि श्रीपद्मनन्दितगुणौघ !
किं बहुना कुरु करुणामत्र जने शरणमापन्ने ॥८॥

बनारसी विलास में प्रकाशित सूक्तिमुक्तावली में निम्न
पांच श्लोक विशेष पाये जाते हैं —

वाञ्छा सज्जनसगमे गुरुजने प्रीतिर्गुरोर्नम्रता,
विद्याया व्यसन स्वयोषितिरतिर्लोकापवादाद्भय ।
भक्तिश्चार्हति शक्तिरात्मदमने ससर्गमुक्तिः खले,
यस्यैताः परिणामसुन्दरकला श्लाघ्य स एव क्षितौ ॥१॥

निन्दा मुञ्च शमामृतेन हृदय स्न सिञ्च वञ्च क्रुध,
सन्तोष भज [illegible] जनेष्वात्मप्रशसां त्यज ।

विषयसूची

सूक्तमुक्तावल्यां प्रयुक्तछन्दानां विवरण

क्रमाङ्क	छन्दनाम	संख्या
१	शार्दूलविक्रीडित	५३
२	इन्द्रवज्रा	३
३	मन्दाक्रान्ता	३
४	शिखरिणी	१५
५	वंशस्थ	३
६	मालिनी	७
७	हरिणी	६
८	वसन्ततिलका	५
९	उपेन्द्रवज्रा	२
१०	पृथ्वी	२
११	स्रग्धरा	१
		कुल १००

श्री १०८ आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज



क्षुल्लकदीक्षा वि० सं० २००० ✻ मुनिदीक्षा वि० सं० २००६
फाल्गुन शुक्ला पञ्चमी — आषाढ़ शुक्ला एकादशी
सिद्धवरकूट — नागौर

समाधि वि० स २०२६, फाल्गुन कृष्णा अमावस्या,



श्रीवीतरागाय नम

श्री सोमप्रभाचार्यविरचिता

सूक्तिमुक्तावली

(हर्षकीर्तिसूरिकृतव्याख्यासहिता)

[मङ्गलाचरण]

श्रीमत्पार्श्वजिन नत्वा, स्वानसायस्य कारक ।
सद्यः सस्मृतिमात्रेण, प्रत्यूहव्यूहवारक ॥ १ ॥
श्रीचन्द्रकीर्त्तिसूरीणां, सद्गुरूणांप्रसादतः ।
सिन्दूरप्रकरव्याख्या, क्रियते हर्षकीर्तिना ॥ २ ॥ युग्म

अथ ग्रन्थकर्ता आदौ इष्टदेवताचरणस्मरणरूपमगला-चरणपूर्वक श्रोतृन् प्रति आशीर्वादवृत्तमाह

(शार्दूलविक्रीडितछन्द)

सिन्दूरप्रकरस्तपः करिशिर क्रोडे कषायाटवी
दावार्चिर्निचय. प्रबोधदिवसप्रारम्भसूर्योदय. ।

मुक्तिस्त्रीकुचकुम्भकुङ्कुमरसः श्रेयस्तरोः पल्लव
प्रोल्लासः क्रमयोर्नखद्युतिभरः पार्श्वप्रभो पातु वः ॥१॥

व्याख्या-पार्श्वप्रभो श्रीपार्श्वनाथस्य क्रमयोश्चरणयो नेखद्युतिभर नखकान्तिसमूहो वो युष्मान पातु अवतु रक्षतु। कथभूतो नखद्युतिभर तप करिशिर क्रोडे सिदूरप्रकर तप एव करी हस्ती तस्य शिर क्रोडोमस्तकमध्यभाग कुम्भस्थल तत्र सिदूर-प्रकर सिन्दूरपुञ्ज कुकुमसदृशः नखद्युतिभरस्य रक्तत्वात्। सिन्दूरप्रकरोपम पुन कथभूत कषायाटवी दावाचिर्निचय कषाया क्रोधमानमायालोभास्त एव अटवी अरण्य वन तस्या दावाचिर्निचय दावाग्निज्वालासमूहतुल्य। पुन कथभूत प्रबोधदिवसप्रारभ-सूर्योदय प्रबोधो ज्ञान स एव दिवसो दिन तस्य प्रारभे उदये सूर्योदयसमान। पुन कथभूत मुक्तिस्त्रीकुचकुम्भकुकुमरस मुक्तिरेव स्त्री तस्या कुचावेव कुभौ तत्र कुकुमरस काश्मीरजम द्रवलेपतुल्य। मुक्तिस्त्रीवदनैक्कुङ्कुमरस इति वा पाठ। पुन कथ-भूत श्रेयस्तरो पल्लवप्रोल्लास श्रेय कल्याणमेव तरु वृक्षस्तस्य पल्लवाना नूतन पत्राणा प्रोल्लास उद्गम। ईदृश पार्श्वप्रभो क्रमयोश्चरणयोर्नखद्युतिभरो वो युष्मान् पातु रक्षतु। नखद्युति-भरस्य रक्तवर्णत्वात्। रक्ता एवोपमा। भो भव्यप्राणिन्। एव ज्ञात्वा मनसि विवेकमानीय श्रीपार्श्वनाथस्य चरणकमलौ एव सेव्यौ। सेव्यमानाना यत्पुण्यमुत्पद्यते तत्पुण्यप्रसादात् उत्तरोत्तरमाङ्गलिक्य-माला विस्तरन्तु॥ १॥

अर्थ—पार्श्वप्रभु के चरणों की नख की कान्ति का समूह तुम्हारी रक्षा करे यह आचार्य का सबके लिये आशीर्वाद है। वह नख कान्ति समूह कैसा है उसका उत्प्रेक्षालंकार रूप उपमा में वर्णन किया गया है —

भगवान के द्वारा किया गया जो तप [उग्रतपस्या] वही हुआ हाथी, उस हाथी के मस्तक में लगे हुये सिंदूर का समूह ही है मानों कषाय रूपी वनों को भस्म करने के लिये दावानल ही है मानों, ज्ञान रूपी दिन का प्रारम्भ सूर्य का उदय ही है मानों (क्योंकि सूर्य उदय होते समय लाल होता है और भगवान के नख भी लाल हैं) मुक्ति स्त्री के स्तन कलश की केशर ही है मानों कल्याण रूपी वृक्ष की कू पल का हर्षोल्लास है मानों, इसप्रकार पार्श्व प्रभु का नख-कान्ति-समूह तुम्हारी तथा हम सब की रक्षा करे।

अथ कवि सज्जनपुरुषान् प्रति स्वविज्ञप्तिमाह—

सन्तः सन्तु मम प्रसन्नमनसो वाचा विचारोद्यताः
सूतेऽम्भः कमलानि तत्परिमलं वाता वितन्वन्ति यत् ।
किंवाभ्यर्थनयानया यदि गुणोऽस्त्यासां ततस्ते स्वयं
कर्तारः प्रथनं न चेदथ यशःप्रत्यर्थिना तेन किं ॥२॥

व्याख्या—सन्तः सज्जना मम प्रसन्नमनसः सन्तु ममोपरि प्रसन्नचित्ता भवन्तु किंविशिष्टाः सन्तः वाचा विचारोद्यता। वाचां कविवाणीनां विचारे सदसद्विचारे उद्यताः सावधानाः। इयं कविवाणी समीचीना इयं असमीचीना इति विचारज्ञाः। यत्

यस्मात् कारणात् अम्भ पानीय कमलानि सूते उत्पादयति पर तत्परिमल तेषा कमलाना आमोद वाता वायवो वितन्वति विस्तारयन्ति। तथाहं एन ग्रन्थ रचयिष्यामि पर ग्र थस्य विस्तारण सज्जना करिष्यन्ति यत "पद्मानि बोधयत्यर्क"। काव्यानि कुरुते कवि तत्सौरभ नभस्वत सन्तस्तन्वन्ति तद्गुणान्। वा अथवा अनया मम मे अभ्यर्थनया सतामग्रे प्रार्थनया किं अपि तु न किमपि कृत यदि चेत् आसा मम वाणीना मध्ये गुणोऽस्ति सत्तस्तदा ते सन्त स्वय मेव प्रयत्न विस्तार प्रकार करिष्यन्ति यदि अस्मिनशास्त्रे कश्चिद् गुणोभविष्यति तदा स त स्वयमेव ममाभ्यर्थनया विनैव विस्तार करिष्यन्ति। अथ यदि चेत् आसा मम वाणीना मध्ये गुणो नास्ति तदा तेन प्रयत्नेन विस्तारणेन किं अपितु न किमपि। कथंभूतेन तेन प्रयत्नेन विस्तारणेन यश प्रत्यर्थिना यशस प्रत्यर्थि शत्रुभूत यत्तत् यश प्रत्यर्थि तेन यश प्रत्यर्थिना यशसो विनाशकेन निर्गुणस्य विस्तारणेन अयश एव भवतीत्यर्थ ॥ २॥

अर्थ—निर्मल चित्त वाले सत्पुरुष मेरे वचनों के विचार में उद्यमवान् हों। जैसे जल कमलों को उत्पन्न करता है परन्तु पवन (वायु) उनकी सुगन्ध को फैलाता है। कमलों की प्रार्थना से पवन सुगन्ध को नहीं विस्तृत करता परन्तु अपने स्वभाव से ही विस्तृत करता है उसी प्रकार यदि मेरे वचनों में गुण (ग्राह्यता का अंश) है तो प्रार्थना से क्या लाभ और यदि गुण विद्यमान नहीं हैं तो भी प्रार्थना कर क्या साध्य है?

भावार्थ—इस श्लोक में आचार्य ने अपनी लघुता एव बड़े आचार्यों की महत्ता प्रगट की है कि-सत्पुरुष स्वभाव से ही गुण-

माही होते हैं दूसरों के दोषों को ग्रहण कभी नहीं करते। आचार्य कहते हैं कि हम इस काव्य ग्रन्थ का निर्माण कर रहे हैं सो पूर्व आचार्यों की परम्परा से कर रहे हैं, अपनी बुद्धि से नहीं। इस हेतु (कारण) से हम कर्त्ता नहीं हैं। केवल भक्ति के अनुराग से ग्रन्थ रचना की है। अत प्रमाद वश से कहीं पर भूल चूक हो तो सज्जन पुरुष विचार कर शुद्ध करलें। क्योंकि उनका स्वभाव ही ऐसा होता है जो गुण ग्रहण ही करते हैं दोषों पर दृष्टिपात नहीं करते तो ऐसी दशा में उनसे प्रार्थना करने से क्या प्रयोजन ? क्योंकि यदि हमारे वचनों में गुण होंगे तो वे सज्जन पुरुष विस्तार ही करेंगे और यदि दोष होंगे तो दोषों को दूर कर विस्तार करेंगे। जैसे जल कमलों को उत्पन्न करता है परन्तु पवन गन्ध को फैलाता है क्योंकि पवन का स्वभाव यही है। इसी प्रकार ग्रन्थकर्त्ता को यदि यश नहीं तो यश-विस्तार की प्रार्थना करने से क्या प्रयोजन है ? यदि यश है तो भी प्रार्थना करने से क्या प्रयोजन ? अत सज्जन पुरुष मुझे बालक समझ कर अनुग्रह बुद्धि कर शुद्ध करेंगे ही। इस प्रकार ग्रन्थकार ने अपनी लघुता प्रदर्शित की है।

अथ विहितसकलसुरासुरसेवस्य देवाधिदेवस्य श्रीवीतराग-स्यागमानुसारेण भव्याना हितहेतवे धर्मोपदेशमाह—

इन्द्रवज्राछन्द

त्रिवर्गससाधनमन्तरेण, पशोरिवायुर्विफल नरस्य ।
तत्रापि धर्मं प्रवर वदति, न त विना यद्भवतोऽर्थकामौ ॥३॥

व्याख्या—भो भव्या त्रिवर्गससाधनमतरेण नरस्य आयु पशोरिव विफल होयम् । धर्मार्थकाममोक्षाश्चत्वार पुरुषार्थाश्चतुर्वर्गास्तेषा मध्ये साम्प्रत अस्मिन् भरतक्षेत्रे मोक्ष साधयितु न शक्य । अत कारणात् शेषास्त्रिवर्गा धर्मार्थकामरूपास्तेषा त्रिवर्गाणा ससाधन उपार्जनम तरेण विना नरस्य मनुष्यस्य आयु जीवित पशोरिव विफल निष्फल ध्रुवेत्वर्य । येन नरेण धर्मार्थकामाना साधनमुपार्जन न क्रियते तस्य जीवित पशोरिव छागादेरिव वृथा निष्फल । तथा चोक्त ।

धर्मार्थकाममोक्षाणा, यस्यैकोऽपि न विद्यते ।
अजागलस्तनस्येव निष्फल तस्य जीवितम् ॥१॥

इति । ते त्रयोपि किं सदृशा वा किञ्चिद् वर्गमित्याह तत्रापि त्रिवर्गेपि धर्म प्रवर वदति श्रेष्ठ कथयन्ति । यत यस्मात् कारणात् तं धर्मं विना अर्थकामौ न भवत । येन पुरुषेण पूर्वजन्मनि धर्म कृतो भवति तस्यैवार्थकामौ भवत नान्यस्य । यदुक्त—

किं जपिएण बहुणा ज ज दीसइ समच्छ नियलोए ।
इदियमणोभिराम त त धम्मफल सव्व ॥ २ ॥

अत कारणात् त्रिवर्गे धर्म एव श्रेष्ठ । भो भव्यप्राणिन् । एव ज्ञात्वा मनसि विवेकमानीय श्रीसर्वज्ञप्रणीतो धर्म एव आचरणीय । धर्ममाचरता सता यत्पुण्यमुत्पद्यते तत्पुण्यप्रसादात् । उत्तरोत्तर मांगलिक्यमाला आनिर्मयतु विस्तरतु ॥ ३ ॥

अर्थ—धर्म, अर्थ, काम इन तीन पुरुषार्थों के साधन बिना मनुष्य की आयु पशु-समान निष्फल है और इन तीनों पुरुषार्थों में धर्म पुरुषार्थ सबसे मुख्य है। क्योंकि धर्म के बिना अर्थ-पुरुषार्थ और काम पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होती।

अथ नरभवस्य दुर्लभत्वमाह—

यः प्राप्य दुष्प्राप्यमिदं नरत्वं, धर्मं न यत्नेन करोति मूढः ।
क्लेशप्रबन्धेन स लब्धमब्धौ, चिन्तामणिं पातयति प्रमादात् ॥४॥

व्याख्या—यो मूढो मूर्ख इदं दुष्प्राप्यं नरत्वं प्राप्य यत्नेन उद्यमेन धर्मं न करोति स क्लेशप्रबन्धेन लब्धं चिन्तामणिं रत्नं प्रमादात् आलस्यात् अब्धौ समुद्रे पातयति। यो मूर्खः पुमान् दुःखेन महत्कष्टेन प्राप्यं।

चोल्लय' पासय' धएणे' जूआ' रयणाणि' सुमणि' चक्क वा'।
कुम्म' जुग' परमाणु दस दिट्ठं ता मणुयलंभे'॥
आ० पृ० ३६७॥

इत्यादि दशभिर्दृष्टान्तैः।

इदं दुर्लभं नरत्वं मनुष्यजन्म प्राप्य लब्ध्वा यत्नेन सावधानतया श्रीवीतरागप्रणीतधर्मं न करोति उपेक्षते। स पुमान् क्लेशप्रबन्धेन महता कष्टेन अतिप्रयासेन लब्धं प्रत्यक्षप्राप्तं चिंतामणिरत्नं प्रमादाद् अब्धौ समुद्रे पातयति। अत्र ब्राह्मणः रत्नद्वीपदेव्या दत्तं चिंतामणिरत्नं समुद्रे पातनसम्बन्धो वाच्यः। भो भव्यप्राणिन्! एवं ज्ञात्वा मनसि विवेकमानीय यत्नेन धर्म्म एव कार्य्यः।

धर्मं च कुर्वता सता यत्पुण्यमुत्पद्यते तत्पुण्यप्रसादादुत्तरोत्तरमाङ्गलिक्यमाला विस्तरतु ॥ ४ ॥

अर्थ—जो अज्ञानी कठिनता से प्राप्त होने वाले इस मनुष्य पर्याय को पाकर भी सर्वज्ञ वीतराग प्रणीत धर्म को यत्न से (सावधान होकर) सेवन नहीं करता वह अज्ञानी कष्टों से प्राप्त किये हुए चिंतामणि रत्न को प्रमाद से समुद्र में फेंकता है।

भावार्थ—मनुष्य भव की प्राप्ति विशेष पुण्योदय से होती है। श्रद्धापूर्वक वीतराग देव, जिनागम एवं निर्ग्रन्थ गुरुओं की भक्ति करना ही इस मनुष्य जन्म की सफलता प्राप्त करना है। जो ऐसा न करके सांसारिक विषय वासनाओं में लिप्त होकर अहर्निश (रातदिन) व्यतीत करते हैं वे अज्ञानी हैं, वे मानों बड़े परिश्रम से प्राप्त चिन्तामणि रत्नको पाकर समुद्र में फेंकते हैं। इसलिये धर्म साधन कर मनुष्य जन्म सफल करना योग्य है। आगे इसी कथन को दृष्टान्त द्वारा दृढ करते हैं—

अथ मनुष्यभवस्य सर्वोत्कृष्टत्वमाह—

मन्दाक्रान्ताछन्द

स्वर्णस्थाले क्षिपति स रजः पादशौचं विधत्ते,
पीयूषेण प्रवरकरिणं वाहयत्येन्धभारम् ॥
चिन्तारत्नं विकिरति कराद्वायसोड्डायनार्थम्,
यो दुष्प्राप्यं गमयति मुधा मर्त्यजन्म प्रमत्तः ॥५॥

व्याख्या—य पुमान् प्रमत्त सन् प्रमादस्य वश गत सन् वश पतित सन् विषयकषायनिद्राविकथारूपप्रमादवशगत सन् दुष्प्राप चतुरशीतिलक्षजीवयोनिषु भ्रमता जीवेन दु खेन महता कष्टेन प्राप्य यत् मर्त्यजन्म मनुष्यभव तत् मुधा वृथा श्रीजिनधर्म विना निष्फल गमयति। स पुमान् स्वर्णस्थाले रजो धूलि कचरादि क्षिपति स्वर्णस्थालतुल्य मर्त्यजन्म रज सदृशा प्रमादा । पुन स पुमान् पीयूषेण अमृतेन कृत्वा पादशौच चरणप्रक्षालन विधत्ते करोति। पीयूषस्य बिन्दुमात्रपानेनाऽजरामरत्व स्यात तत् पादप्रक्षालनार्थं वृथा गमयतीत्ययुक्त । पुन स पुमान् प्रवरकरिण प्रधानहस्तिन ऐन्धभार काष्ठसमूह वाहयति यस्मिन् गजे द्वारे बद्धे सति शोभा भवति तेन इन्धनानयनमयुक्त । पुन स पुमान् वायसोड्डायनाय काकस्य उड्डायननिमित्त चिंतामणिरत्न करात् हस्तात् विकिरति विक्षिपति यथा मनोवाञ्छितार्थदायकस्य चिन्तामणिरत्नस्य काकस्य उड्डायनाय विक्षेपणमयुक्त तथा धर्मसाधकेन मर्त्यजन्मना प्रमादसेवनमयुक्त । भो भव्यप्राणिन्! एव ज्ञात्वा मनसि विवेकमानीय प्रमाद त्यक्त्वा धर्मेण कृत्वा मनुष्यजन्म सफल कार्यं धर्ममाचरता सता यत्पुण्यमुत्पद्यते तत्पुण्यप्रसादादुत्तरोत्तरमाङ्गलिक्यमाला विस्तरन्तु ॥ ५ ॥

अर्थ—जो प्रमादी पुरुष दुर्लभ मनुष्य जन्म को पाकर व्यर्थ ही विषय कषाय सेवन, विकथा श्रवण, जूआ खेलना आदि में गमाता है वह मानों सोने के थाल में धूल भरता है अर्थात् सुवर्ण थाल में दूध दही घी मिश्री आदि सुंदर स्वादिष्ट भोजन करना चाहिये था किन्तु मूर्ख उस स्वर्ण थाल में धूल भरने का कार्य

करता है। अथवा वह अमृत को पाकर उससे पैर धोने के काम में लाता है, अथवा महान् श्रेष्ठ हाथी को पाकर उससे ईंधन ढोने का काम करता है, या वह मूर्ख आदमी कौवे-को उड़ाने के लिये चिन्तामणि रत्न को फेंकता है।

ये तु असाराणां विषयाणां कृते धर्मम् त्यजन्ति ते मूढा एवेत्याह—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

ते धत्तूरतरुं वपन्ति भुवने प्रोन्मूल्य कल्पद्रुमं
चिन्तारत्नमपास्य काचशकलं स्वीकुर्वते ते जडाः।
विक्रीय द्विरदं गिरीन्द्रसदृशं क्रीणन्ति ते रासभं
ये लब्धं परिहृत्य धर्ममधमा धावन्ति भोगाशया ॥६॥

व्याख्या—ये अधमा मूर्खाः पुरुषाः लब्धं प्राप्तं धर्मं परिहृत्य त्यक्त्वा भोगाशया विषयवाञ्छया धावन्ति विषयार्थं प्रवर्तन्ते ते नरा भवने स्वगृहे प्रोद्गतमुत्पन्नं कल्पवृक्षं प्रोन्मूल्य उत्खाय धत्तूरवृक्षं वपन्ति आरोपयन्ति पुनस्ते जडा मूर्खाः चिन्तामणिरत्नमपास्य त्यक्त्वा दूरीकृत्य काचशकलं काचखण्डं स्वीकुर्वते गृह्णन्ति पुनस्ते जडा गिरीन्द्रसदृशं पर्वतप्रायकायं उच्चं द्विरदं हस्तिनं विक्रीय रासभं गर्दभं क्रीणन्ति मूल्येन गृह्णन्ति। अत्र कल्पवृक्षसदृशो धर्मः धत्तूरसदृशा भोगा एव सर्वत्रोपनयः। भो भव्यप्राणिन्! एवं ज्ञात्वा मनसि विवेकमानीय कल्पवृक्षचिन्तामणिसदृशं श्रीधर्मं एवाराध्य धर्ममाराधयता सता यत्पुण्यमुत्पद्यते तत् पुण्यप्रसादादुत्तरोत्तरमागमिष्यमाणा विस्तरन्तु ॥ ६ ॥

अर्थ—जो नीच पुरुष पवित्र एवं कल्याणकारी वीतराग धर्म को पाकर भोगों की आशा से उसे छोड़ कर अन्य संसार के कामों में दौड धूप लगाते हैं अर्थात् विषय भोगों में मग्न हो जाते हैं वे जड़बुद्धि महल में लगे हुए कल्पवृक्ष को उखाड़ कर धतूरे के पेड़ को बोते हैं, चिन्तामणि रत्न को दूर फेंक कर काच का टुकड़ा स्वीकार करते हैं, पर्वत सदृश ऊंचे हाथी को बेच कर गधे को खरीदते हैं।

अथ नरभवस्य धर्मसामग्र्याश्च दुर्लभत्वमाह—

शिखरिणी छन्द

अपारे संसारे कथमपि समासाद्य नृभवं
न धर्मं यः कुर्याद्विषयसुखतृष्णातरलितः।
ब्रुडन् पारावारे प्रवरमपहाय प्रवहणं
स मुख्यो मूर्खाणामुपलमुपलब्धुं प्रयतते ॥ ७ ॥

व्याख्या—यः पुमान् विषयसुखतृष्णातरलितः सन् विषयाणां कामभोगानां शब्दरूपरसस्पर्शगन्धानां सुखस्य तृष्णा वाञ्छा तया तरलितो व्याहितो व्याकुलीकृतः सन् अपारे अनंते संसारे कथमपि महता कष्टेन नृभवं मनुष्यजन्म समासाद्य प्राप्य धर्म्मं न कुर्यात् न करोति स पुमान् पारावारे समुद्रे ब्रुडन् निमज्जन् प्रवरमुत्तमं प्रवहणं पोतं अपहाय त्यक्त्वा तरणार्थमुपलं पाषाणं उपलब्धुं गृहीतुं प्रयतते यत्नं करोति उद्यमं करोति कथंभूतः स मूर्खाणां मुख्यः मूर्खेषु वृद्धमूर्खः। अत्र संसारः समुद्रः धर्म्मः प्रवहणं विषयाः पाषाणसदृशा इत्युपनयः। भो भव्यप्राणिन्! इति ज्ञात्वा मनसि

विवेकमानीय ससारसमुद्रतारक श्रीधर्म एवाराध्य आराधयतां च सता यत्पुण्यमुत्पद्यते तत्पुण्यप्रसादादुत्तरोत्तरमाङ्गलिक्यमाला विस्तरन्तु ॥ ७ ॥

अर्थ—इस अपार ससार में कठिनता से प्राप्त किये गये मनुष्य भव को पाकर जो व्यक्ति इन्द्रिय विषयों के सुख की तृष्णा में आसक्त-सना हुआ सर्वज्ञ वीतराग प्रणीत जिनधर्म को पालन नहीं करता वह मूर्खों में मुख्य कहा जाता है। वह समुद्र में डूबते हुये महान् जहाज को छोड़ कर पत्थर की शिला को पकड़ने का प्रयत्न करता है।

अस्मिन् शास्त्रे एता पुपदेशद्वाराणि कथयिष्य ते इत्युपदेश-द्वारेण वृत्तमाह—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

भक्ति तीर्थंकरे गुरौ जिनमते सघे च हिंसानृत-
स्तेयाब्रह्मपरिग्रहाद्युपरम क्रोधाद्यरीणा जय।
सौजन्य गुणिसङ्गमिन्द्रियदम दान तपोभावनां
वैराग्य च कुरुष्व निर्वृतिपदे यद्यस्ति गन्तु मनः ॥८॥

व्याख्या—भो भव्यप्राणिन्! यदि तव निर्वृतिपदे मोक्ष स्थाने गन्तु मनोऽस्ति तदा त्व तीर्थकरे श्रीवीतरागे भक्ति पूजा कुरुष्व। पुनर्गुरौ धर्मोपदेशके भक्ति कुरु। पुनर्जिनमते जिनशासने भक्ति कुरु। पुनश्चतुर्विधसघे साधुसाध्वीरूप सघे भक्ति कुरु। पुन हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहाद्युपरम कुरु। हिंसा जीववध प्राणाति-

पात । अनृत असत्य मृषावाद । स्तेय चौर्य्यं अदत्तादान अदत्तपर वस्तुग्रहण । अब्रह्म मैथुन स्त्रीसेवा । परिग्रहोधनधान्यादि दशविध । एभ्य उपरम निवर्तन कुरुष्व । पुन क्रोधाद्यरीणा जय क्रोधमानमायालोभरूपशत्रूणा जय कुरुष्व । पुन सौजन्य सुजनभाव सर्वजीवेषु मैत्रीभाव कुरुष्व । पुन गुणिसङ्ग गुणिना गुणवता मनुष्याणा सङ्ग सङ्गतिं कुरुष्व । पुन इन्द्रियदम पचेन्द्रियाणा दमन कुरुष्व । पुन दान सुपात्रादिपचप्रकार कुरुष्व । पुनस्तपोऽनशनमूनोदर्य्यादि बाह्य अभ्यन्तर च द्वादशविध कुरुष्व । पुनर्भावना शुभचित्तभाव कुरुष्व । पुनर्वैराग्य ससाराद् भोगादिभ्यश्च विरक्तभाव कुरुष्व । एतानि मोक्षपददायकानि ज्ञात्वा सम्यक्प्रकारेणाराधनीयानि । आराधयता सता यत्पुण्यमुत्पद्यते तत् पुण्यप्रसादादुत्तरोत्तरमागलिक्यमाला विस्तरतु ॥ ८ ॥

अर्थ—हे भव्य जीव ! ससार के दुःखों से छूट कर मोक्षपद प्राप्त करने के लिये यदि तेरे मन में इच्छा है तो आचार्यों का उपदेश धारण कर । वह यह है–४६ गुण सहित, १८ दोष रहित तीर्थंकर देव की भक्ति कर, २४ प्रकार परिग्रह रहित निर्ग्रंथ गुरुओं की भक्ति कर, दयामई जिनधर्म और चार प्रकार के सघ (मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका) की भक्ति कर, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पाच पापों का त्याग कर, क्रोधादि शत्रुओं को जीत, तथा सब के साथ सज्जनता का व्यवहार, गुणी पुरुषों की सगति, पाच इन्द्रियों को वश में कर और चार प्रकार का दान, बारह प्रकार का तप एव ससार शरीर भोगों से विरक्तता धारण

कर। ऐसा करने से तेरा ससार परिभ्रमण दूर होगा और आत्मीक अनत सुख को भोगेगा।

अथ यथोद्देशस्तथैव निर्देश इति वचनादनुक्रमेण द्वाराणि विवृणोति। तत्र प्रथम चतुर्भिर्वृत्तै श्रीतीर्थंकरभक्तिपूजाद्वारमाह—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

पाप लुम्पति दुर्गति दलयति व्यापादयत्यापद
पुण्य सचिनुते श्रिय वितनुते पुष्णाति नीरोगता।
सौभाग्य विदधाति पल्लवयति प्रीतिं प्रसूते यश
स्वर्गं यच्छति निर्वृतिं च रचयत्यर्चाऽर्हतां निर्मिता ॥९॥

व्याख्या—भो भव्य! अर्हतां जिनानां पूजा निर्मिता कृता सती पापं लुम्पति दूरीकरोति। पुन दुर्गतिं नरकादि दुष्टगति दलयति खण्डयति निवारयति। पुन आपद कष्ट व्यापादयति विनाशयति। पुन पुण्य धर्म सचिनुते वृद्धिं प्रापयति। पुन श्रिय लक्ष्मीं वितनुते विस्तारयति। पुन नीरोगता शरीरे आरोग्य पुष्णाति पोषयति। पुन सौभाग्य सर्वजनेषु श्लाघनीयता विदधाति करोति। पुन प्रीतिं पल्लवयति उत्पादयति। पुन यश प्रसूते यशो विस्तारयति। पुन स्वर्गं त्रिदिव देवपदवीं यच्छति ददाति। पुन निवृतिं मुक्तिं रचयति ददाति। भो भव्यप्राणिन्! एव ज्ञात्वा मनसि विवेकमानीय सम्यक्त्वनिर्मलविधायिनी इहलोके परलोके च सर्वसौख्यदायिनी श्रीजिनपूजा कार्या। तत् कुर्वता सता यत्पुण्यमुत्पद्यते तत्पुण्यप्रसादादुत्तरोत्तरमांगलिक्य माला विस्तर तु॥ १॥

अर्थ—जो भव्यात्मा श्रीअरहन्त वीतराग प्रभू की भाव भक्ति से (दृढ श्रद्धा पूर्वक) पूजन करते हैं उनके जन्म जन्म के संचित पापों का लोप (नाश) हो जाता है, दुर्गति का नाश होता है, आपत्तियां दूर हो जाती हैं, पुण्य का भण्डार भर जाता है, इन्द्रादि पद की लक्ष्मी प्राप्त होती है, शरीर निरोग रहता है, सौभाग्य बढ़ता है, सबसे प्रीति बढ़ती है अर्थात् उसे सब प्यार करते हैं-सब चाहते हैं, संसार में उनकी कीर्ति फैलती है स्वर्गों का निवास मिलता है और तो क्या ? मुक्तिपद की भी प्राप्ति होती है।

पुनः श्रीजिनपूजाफलमाह—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

स्वर्गस्तस्य गृहांगणं सहचरी साम्राज्यलक्ष्मीः शुभा
सौभाग्यादिगुणावलिर्विलसति स्वैरं वपुर्वेश्मनि ।
संसारः सुतरः शिवं करतलक्रोडे लुठत्यञ्जसा,
यः श्रद्धाभरभाजनं जिनपतेः पूजां विधत्ते जनः ॥१०॥

व्याख्या—यो जनः श्रद्धाभरभाजनं सन् श्रद्धा रुचिस्तस्या भरः प्रचुरता तस्या भाजनं स्थानं भाजनशब्दस्याऽजहल्लिंगत्वात् नपुंसकत्वं शुभभावनायुक्तः सन् जिनपतेः श्रीवीतरागदेवस्य पूजां विधत्ते करोति तस्य जनस्य स्वर्गो देवलोको गृहांगणं गृहस्यांगणवन्निकटो भवति । पुनः शुभा मनोरमा साम्राज्यलक्ष्मी राज्यऋद्धिस्तस्य सहचरी सार्द्धं वर्तिनी भवति । पुनर्वपुर्वेश्मनि वपुरेव शरीरमेव वेश्म गृहं तस्मिन् सौभाग्यधैर्यौदार्यचातुर्यादिगुणानां आवलिः श्रेणि

स्वैरं स्वेच्छया विलसति आगत्य विलास क्रीडा करोति विष्टतीत्यर्थ पुन ससार सुखेन सीयंते इति सुतर' सुखेन तरीतु शक्यो भवति। पुन' शिवं मोक्ष अञ्जसा शीघ्रं तस्य करतलक्रोडे हस्ततलमध्ये लुठति हस्तगोचरो भवतीत्यर्थ ।अतोऽर्हतां पूजा कार्या। तत्राहतश्च तुर्विधा' नामस्थापनाद्रव्यभावभेदात्।

णामजिणा जिणणामा ठवणजिणा तह य ताइ पडिमाओ।
दव्वजिणा जिणजीवा भावजिणा समवसरणत्था॥

इति भो भव्यप्राणिन्। एव ज्ञात्वा मनसि विवेकमानीय अर्हतां पूजा कार्या। सत्कुर्वता च सता यत्पुण्यमुत्पद्यते तत्पुण्यप्रसादादुत्तरोत्तरमांगलिक्यमालिका विस्तरतु॥ १०॥

अर्थ—श्रद्धा का भाजन जो पुरुष श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा करता है, स्वर्ग उसके घर के आगन के समान है, चक्रवर्ती इन्द्र धरणेन्द्र की लक्ष्मी उसकी दासी हो जाती है, सौभाग्य आदि गुण उसके शरीर रूपी घर में स्वच्छन्द क्रीडा (विलास) करते हैं, विकट ससार उसके द्वारा आसानी से पार करने योग्य हो जाता है और तो क्या ? निश्चय से उसके हाथों के मध्य मोक्ष का सुख लोटता है अर्थात् शीघ्र ही निर्मल मोक्ष पद प्राप्त कर लेता है।

विशेष—जैसे किसी बतन (पात्र) में कोइ वस्तु रखी जाती है उसी प्रकार जो पुरुष अपने हृदय में वीतराग देव की श्रद्धा भर लेता है तो उसको तत्काल सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। नदीश्वर द्वीप की पूजन में उल्लेख है कि उन अकृत्रिम चैत्यालयस्थ वीतराग

प्रतिमाओं के दर्शन, पूजन से सम्यग्दर्शन का धारी देव हो जाता है मनुष्यों का तो वहा आवागमन ही नहीं है। मनुष्यों तिर्यंचों के भी वीतरागदेव के दर्शन पूजन से सम्यक्त्व का आविर्भाव (उत्पत्ति) हो जाता है ऐसा शास्त्रों में (सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक आदि में) कथन है। कहा है —

जिने भक्तिर्जिने भक्ति, र्जिने भक्तिर्दिने दिने।
सम्यक्त्वमेव ससार वारण मोक्षकारणम्॥

अर्थात् जिनेन्द्र वीतराग देवकी भक्ति सम्यक्त्व की उत्पत्ति में प्रधान कारण है और सम्यक्त्व ससार का छेदक तथा मुक्तिका कारक है उससे अन्य सासारिक सपत्ति तो सहज ही मिल जाती है।

पूजाया प्रभावमाह—

शिखरिणीछन्द

कदाचिन्नातङ्क कुपित इव पश्यत्यभिमुखम्
विदूरे दारिद्र्य चकितमिव नश्यत्यनुदिनम्।
विरक्ता कान्तेव त्यजति कुगति सङ्गमुदयो
न मुञ्चत्यभ्यर्ण सुहृदिव जिनार्चां रचयत॥ ११॥

व्याख्या—जिनार्चां श्रीवीतरागस्य पूजा रचयत कुर्वत पुरुषस्य आतको भय कदाचित अभिमुख सम्मुख न पश्यति न विलोकयति क इव कुपित इव यथा कश्चित् कुपितो रुष्टो भवति। स यथा तस्य सम्मुख न पश्यति। तथेत्यर्थ। पुन दारिद्र्य दरिद्रत्व अनुदिन निरन्तर तस्य दूरे नश्यति दूरे याति। किमिव चकितमिव भयभीतमिव। पुनर्नरकादिकुगतिस्तस्य सङ्ग समीप त्यजति मुञ्चति

का इव विरक्ता कुपिता रुष्टा कान्ता इव स्त्री इव यथा विरक्ता स्त्री भर्त्तुं सङ्ग त्यजति तथेत्यर्थं । पुन• उदय अभ्युदय प्रतापैश्वर्या दिवृद्धिस्तस्याऽभ्यर्णं समीप न मुचति न त्यजति क इव सुहृदिव मित्र इव । अतोऽर्हता पूजा कार्या । उक्त च—

भो भव्यप्राणिन् ! एव ज्ञात्वा मनसि विवेकमानीय श्रीजिन-पूजा कर्तव्या । कुर्वता च सता यत्पुण्यमुत्पद्यते तत्पुण्यप्रसादादु-त्तरोत्तरमाङ्गलिक्यमाला विस्तरन्तु ॥ ११ ॥

अर्थ—जो पुरुष श्री वीतराग जिनराज प्रभू की पूजा करते हैं उनके आतङ्क अर्थात् रोग कोपायमान हुये के समान कभी भी सन्मुख नहीं आता है अर्थात वे कभी भी अपने सामने रोग को आया हुआ नहीं देखते हैं। वीतराग प्रभू के पूजक पुरुष सदैव स्वस्थ नीरोग रहते हैं दरिद्रता चकित हुये पुरुष की तरह दिन प्रति दिन दूर ही से नाश को प्राप्त हो जाती है अर्थात उनके दरिद्रता कभी नहीं आती सदैव लक्ष्मी से भरपूर भण्डार रहते हैं, कुगति-अपने पति से विरक्त हुई स्त्री की तरह संग छोड़ कर चली जाती है अर्थात् वीतराग के पूजक—दुर्गति नरक तिर्यंच कभी भी प्राप्त नहीं करते किन्तु मरकर सुगति में पैदा होते हैं जहाँ उन्हें आत्मकल्याण के अनेक साधन मिलते हैं। तथा उनके महान् भाग्यरूपी सूर्य का उदय होता है जो उनका कभी भी मित्रके समान साथ नहीं छोड़ता किन्तु सदा साथ रहता है जिससे वे भव भव में सुखी रहते हैं। ऐसा जिनेन्द्र पूजन का अद्भुत फल जान कर प्रतिदिन जिनेन्द्र की पूजन करना चाहिए।

पुन श्रीजिनपूजाया माहात्म्यमाह—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

य. पुष्पैर्जिनमर्चति स्मितसुरस्त्रीलोचनै सोऽर्च्यते
यस्तं वन्दत एकशस्त्रिजगता सोऽहर्निशं वद्यते ।
यस्तं स्तौति परत्र वृत्रदमनस्तोमेन स स्तूयते
यस्तध्यायति क्लृप्तकर्मनिधन' स ध्यायते योगिभि' ॥१२॥

व्याख्या—य पुरुष पुष्पै कृत्वा जिन श्रीवीतराग अर्चति पूजयति स पुरुष स्मितसुरस्त्रीलोचनै अर्च्यते पूज्यते। स्मितानि विकसितानि यानि सुरस्त्रीणा देवाङ्गनाना लोचनानि नेत्राणि तै देवलोके देवत्वेनोत्पन्न सदेवागनाभि विकसितनेत्रै अर्च्यते पूज्यते सराग अवलोक्यते इत्यर्थ । पुनर्य पुमान् एकश एकवार त श्रीजिन-देव व-दते स अहर्निश दिवारात्रौ त्रिजगता त्रिभुवनेन वद्यते। यो जिन व-दते स त्रिजगद्वद्यो भवतीत्यर्थं । पुनर्य' पुमान् त श्रीजिन स्तौति स्तोत्रै वर्णयति म पुमान् परत्र परलोक वृत्रदमनस्तोमेन वृत्रदमनाना इ-द्राणा स्तोमेन समूहेन स्तूयते गुणस्तुत्या कृत्वा वर्ण्यते। पुन य त श्रीजिन ध्यायति पिण्डस्थपदस्थरूपस्थरूपातीतभेदैर्हृदये ध्यानगोचर करोति स पुमान् योगिभि योगीश्वरै महामुनिभिर्ध्या-यते ध्यानगोचर क्रियते। कथभूत' स क्लृप्तकर्म्मनिधन क्लृप्त रचित कृत अष्टकर्मणा निधन विनाशो येन स क्ल-तकर्म्मनिधन सिद्धाव-स्था प्राप्त इत्यर्थ । पूजाविधिस्तुति । अनेन विधिना श्रीजिनपूजा कार्या। अत्र श्रीसिंदूरप्रकराख्योपदेशशास्त्रे श्रीजिनपूजाधिकार याव-दय सबधो व्याख्यातोऽस्ति ततोऽग्रे य सबोधोभविष्यति स वर्त-मानयोगेन ज्ञायते ॥ १२ ॥

अर्थ—जो भव्य पुरुष पुष्पों से जिनेन्द्रदेव की पूजा करता है वह मन्द हास्ययुक्त देवाङ्गनाओंके कमलों द्वारा पूजा जाता है, जो पुरुष एकबार जिनेन्द्रदेव की वन्दना करता है वह तीन लोक द्वारा सदा वन्दनीक होता है, और जो जिनेन्द्र देवकी स्तुति करता है उसकी परभव में इन्द्रों द्वारा स्तुति की जाती है। जो जिनेंद्र देवका ध्यान करता है वह आठों कर्मों का नाश कर देता है और सब सिद्ध परमेष्ठी हो जानेके कारण योगियों द्वारा ध्यान करने योग्य हो जाता है।

इति पूजाया प्रकरण समाप्तम्।

अथ चतुर्भिर्वृत्तै गुरुभक्तिद्वारमाह—

वंशस्थछन्द

अवद्यमुक्ते पथि यः प्रवर्तते
प्रवर्तयत्यन्यजन च नि.स्पृहः।
स एव सेव्यः स्वहितैषिणा गुरुः
स्वयं तरंस्तारयितु क्षम परम् ॥१३॥

व्याख्या—आत्महितवाञ्छकेन पुरुषेण स एव गुरु सेव्य स क य अवद्यमुक्ते पापवर्जिते सार्थे पथि धर्ममार्गे स्वय प्रचलते च पुन अन्यजन अन्यलोक शुद्धमार्गे प्रवर्तयति। यो गुरु निस्पृह परिग्रहादिवाञ्छारहित सन् पुनर्य स्वय ससारसमुद्र तरन् सन् पर अन्य तारयितु क्षम समर्थ। गृणाति तत्त्वमिति गुरु। तत्त्वोपदेशक शुद्धप्ररूपक इत्यर्थ।

दसण भट्ठो भट्ठो दसण भट्ठस्स णत्थि निव्वाण।
सिज्झंति चरण रहिआ दसण रहिआ न सिज्झंति ॥

भो भव्यप्राणिन्! एव ज्ञात्वा मनसि विवेकमानीय शुद्धप्ररूपको जिनाज्ञाराधको गुरु सेव्य । तत्सेवमानाना यत्पुण्यमुत्पद्यते तत्पुण्यप्रसादादुत्तरोत्तरमागच्छिक्यमाला विस्तरन्तु ॥ १३ ॥

अर्थ—जो पापरहित मुक्ति के मार्ग में प्रवृत्ति करते हैं तथा वाछा रहित होकर अन्य भव्य जीवों को मोक्षमार्ग में लगाते हैं। अपना हित चाहने वाले व्यक्ति द्वारा ऐसे ही गुरु सेवन करने योग्य हैं। ऐसे ही निर्ग्रन्थ गुरु ससार समुद्र से आप तिरते हैं और दूसरों को भी ससार समुद्र से पार करने में समर्थ होते हैं।

भावार्थ—परिग्रह, आरभ रहित दिगम्बर जैन साधु ही सेवा एव श्रद्धा के योग्य हैं। अन्य भेषी कुलिंगी सेवन करने योग्य नहीं, वे ससार में पत्थर की नौका के समान स्वय डूबने वाले और दूसरों को डुबाने वाले हैं।

अथ पुनरपि गुरुसेवाया फलमाह—

मालिनीछन्द

निदलयति कुबोध बोधयत्यागमार्थं
सुगतिकुगतिमार्गौ पुण्यपापे व्यनक्ति ।
अवगमयति कृत्याकृत्यभेदं गुरुर्यो
भवजलनिधिपोतस्त विना नास्ति कश्चित् ॥१४॥

व्याख्या—भो भव्यास्त गुरु विना अन्य कश्चित् भवजलनिधिपोत प्रवहण नास्ति भव एव ससार एव जलनिधि । समुद्रस्तत्र

प्रवहणसंसारसमुद्रतारणे प्रवहणसमानो गुरु स्त गुरु विनान्य कश्चि नास्ति। यो गुरु बुधोध कुत्सितज्ञान मिथ्यात्व निरस्यति। पुनर्यो गुरु रागमार्थ सिद्धान्ताना अर्थ बोधयति ज्ञापयति। पुनर्यो गुरु पुण्यपापे पुण्य च पाप च पुण्यपापे ते धर्माधर्मौ द्वे अपि व्यनक्ति प्रकटयति। इद पुण्य इद पापमिति। कथमूते पुण्यपापे सुगतिकुगति मार्गौ सुगतिश्च कुगतिश्च सुगतिकुगती तयो मोर्गौ पुण्य देवनरादिसु गतिमार्ग पाप नरक तिर्यग्रूपकुगतिमार्ग। पुनर्यो गुरु कृत्याकृत्यभेद अवगमयति कर्तुं योग्य कृत्यमयोग्य अकृत्य कृत्य च अकृत्य च कृत्या कृत्ये तयोर्भेदो विवेको विचारस्त ज्ञापयति। भो भव्यप्राणिन्! इति ज्ञात्वा मनसि विवेकमानीय संसारसमुद्रतारणाय प्रवहणसमान श्रीगुरो सेवा कार्या। गुरो सेवा कुर्वता च सता यत्पुण्यमुत्पद्यते तत्पुण्यप्रभावादुत्तरोत्तरमाङ्गलिक्यमाला विस्तरन्तु॥ १४॥

अर्थ—जो मिथ्याज्ञान को दूर करते हैं, आगम सत् सिद्धान्त के अर्थ का भले प्रकार प्रतिपादन करते हैं (ज्ञान कराते हैं) सुगति कुगति के कारण पुण्य पाप को प्रगट करते हैं, कर्तव्य अकर्तव्य के भेद का ज्ञान कराते हैं वे ही गुरु संसार समुद्र से पार होने के लिये जहाज के समान हैं अन्य कोई भी पार करने में समर्थ नहीं है ऐसे ही दिगम्बर वीतराग साधु स्तुति और सेवा करने योग्य हैं अन्य भेषी स्तुति सेवा करने योग्य नहीं हैं।

पुनर्गुरुसेवाया फलमाह—

शिखरिणीछन्द

पिता माता भ्राता प्रियसहचरी सूनुनिवह
सुहृत्स्वामी माद्यत्करिभटरथाश्व परिकर।

निमज्जन्तं जन्तु नरककुहरे रक्षितुमलं
गुरोर्धर्माधर्मप्रकटनपरात्कोऽपि न परः ॥१५॥

व्याख्या—नरककुहरे नरकविवरमध्ये निमज्जन्त ब्रुडन्त पतन्त सन्त जन्तु जीव गुरोरन्य कोपि रक्षितु अल न कश्चिदपि त्रातु समर्थो न। कथ पिता जनको रक्षितु नाल माता जननी नाल भ्राता सहोदरो नाल प्रिया अत्यन्त वल्लभा सहचरी स्त्री रक्षितु नाल। सूनुनिवह पुत्रगणोपि रक्षितु नाल सुहृन्मित्रमपि नाल न समर्थ। स्वामी नायकोऽपि नाल किंभूत स्वामी माद्यत्करिभटरथाश्व माद्यतोमदोन्मत्ता करिणो गजा भटा सुभटा रथा स्यन्दना अश्वाश्च यस्य स एव बलवानपि स्वामी रक्षितु नाल। पुन परिकर प्रभूतसेवकादिवर्गोपि नरके पतन्त रक्षितुमल न समर्थो न। किन्तु एको गुरुरेव नरके पतन्त जीव रक्षितु समर्थ गुरो पर कोपि नरके पतन्त जीव रक्षितु समर्थो न। किंविशिष्टाद्गुरो धर्माधर्मप्रकटनपराद् धर्मश्च अधर्मश्च धर्माधर्मौ पुण्यपापे तयो प्रकटने प्रकाशने परस्तत्परो य स तस्मात्। गुरु धर्माधर्मौ द्वावपि दर्शयति ततश्च य प्राणी धर्म्मंमगीकरोति स नरके न पतति किंतु सुगतिभाग् भवति भो भव्यप्राणिन् [1] एव ज्ञात्वा मनसि विवेकमानीय नरकपतनाद्रक्षणाय समर्थोगुरुरेव सेव्य सेवमानाना च यत्पुण्यमुत्पद्यते तत्पुण्यप्रसादादुत्तरोत्तरमागलिस्यमाला विस्तरन्तु॥ १५॥

अर्थ—धर्म अधर्म को प्रगट करने में तत्पर ऐसे गुरु से अन्य कोइ भी पिता माता, भाई, स्त्री पुत्रसमूह मित्र स्वामी,

मदोन्मत्त हाथी, योद्धा रथ, घोडे आदि परिकर नरक के बिलों [विवर] में पड़ते हुए (डूबते हुये) प्राणी को रक्षा करने में समर्थ नहीं है ।

भावार्थ—नरक रूपी समुद्र में डूबते हुए प्राणी को माता पिता आदि कोई भी निकालने में समर्थ नहीं है, एक श्रीगुरु ही समर्थ हैं ऐसा जानकर श्रीदिगम्बर जैनगुरु का ही आश्रय लेना कार्यकारी है ।

अथ गुरो आज्ञामाहात्म्यमाह—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

किं ध्यानेन भवत्वशेषविषय,-त्यागैस्तपोभिः कृत
पूर्णं भावनयालमिन्द्रियदमैः पर्याप्तमाप्तागमैः ।
किंत्वेक भवनाशन कुरु गुरुप्रीत्या गुरोः शासन
सर्वे येन विना विनाथबलवत् स्वार्थाय नालगुणा ॥१६॥

व्याख्या—भो भव्याः गुरो शासन गुरो आज्ञा विना चेत् ध्यान कृत तर्हि तेन ध्यानेन किं अपितु न किमपि फल । पुन अशेषविषयत्यागे भवतु पूर्ण ज्ञातसमस्तविषयाना परिहारेणापि न किमपि फल । पुन अशेषतपोभि कृत गुरो आज्ञा विना । षष्ठाष्टमदशमा गुपवासादिपक्षक्षपणमासक्षपणसिंहनि क्रीडितादिभिस्तपोभिः कृत सम्पूर्ण जात भया न किमपि । पुनर्भावनया शुभभावेनापि पूर्ण जात । पुन इन्द्रियदमैः पंचेन्द्रियाणा दमनै कृत्वा अल पूर्ण जात । पुन आप्तागमै सूत्रसिद्धान्तपठनैरपि पर्याप्त पूर्ण जात तर्हि किं किंतु गुरुप्रीत्या गरिष्ठशास्त्रत्वेन अधिकादरेण एक गुरो शासन आज्ञा कुरु । गुरोरेषाणा मुद्रा पालय किंभूत गुरो शासनेन आज्ञया

विना सर्वेपि गुणा पूर्वोक्ता ध्यानादय स्वार्थाय स्वल्पफलसाधनाय अल न समर्था न किंतु निष्फला इत्यर्थ । किंवत् विनायबलवत् निर्नायकसैन्यवत् । यथा राजारहितसेना शत्रु जेतु न समर्था भवति तथा गुरुसेवा विना सर्वा वृथा भवति तथा गुरो आज्ञा विना क्रियानुष्ठानादिक सर्वा निष्फल । एव ज्ञात्वा गुरो आज्ञासहित सर्वा कर्तव्य । भो भव्यप्राणिन् । एव ज्ञात्वा मनसि विवेकमानीय गुरुसेवा कर्तव्या कुर्वता च सता यत्पुण्यमुत्पद्यते तत्पुण्यप्रसादादुत्तरोत्तर मागलिक्यमाला विस्तरन्तु ॥ १६ ॥

अर्थ—ध्यान करने से क्या प्रयोजन ? समस्त इन्द्रिय विषयों के त्याग से क्या ? तप करने से क्या ? मैत्री प्रमोद आदि भावनाओं से क्या ? इन्द्रियों के वश में करने से क्या लाभ ? आप्त आगम से भी क्या साध्य । कुछ भी नहीं, किन्तु गुरु की प्रीति से ससार का उच्छेद करने वाला मात्र एक गुरु का शासन ही है अर्थात् गुरु की आज्ञा विना सम्पूर्ण गुण-स्वामी रहित सेनाकी तरह स्वार्थ (मोक्ष) साधन में समर्थ नहीं हैं। भावार्थ-जैसे सेनापति के बिना सेना युद्ध कार्य में विजय प्राप्त नहीं कर सकती उसी प्रकार गुरु की आज्ञा बिना समस्त गुण मोक्ष साधक नहीं हो सकते।

इति गुरुप्रक्रम ।

अथ चतुर्भिर्वृत्तैर्जिनमतस्य जिनोक्तसिद्धान्तस्य च माहात्म्यमाह—

शिखरिणीछन्द

न देवं नादेवं न शुभगुरुमेनं न कुगुरुं
न धर्मं नाधर्मं न गुणपरिणद्धं न विगुणं।
न कृत्यं नाकृत्यं न हितमहितं नापि निपुणं
विलोकन्ते लोका जिनवचनचक्षुर्विरहिताः ॥१७॥

व्याख्या—जिनवचनचक्षुर्विरहिताः जिनवचनमेव चक्षुः नेत्रं तेन रहिताः सन्तः लोका जीवाः एतानि वस्तूनि न विलोकन्ते न पश्यन्ति न जानन्ति इत्यर्थः। किं न विलोकन्ते देवं सर्वज्ञं वितरागादिरित्यादिलक्षणोपेतं न विलोकन्ते। पुनः शुभगुरुं सुगुरुं शुद्धप्ररूपकं गुरुं न जानन्ति। पुनः कुगुरुं पचाचाररहितमुत्सूत्र प्ररूपकं न जानन्ति। पुनः धर्मं अधर्मं च न जानन्ति धर्माधर्मयोरन्तरं न विदन्तीत्यर्थः। पुनः गुणपरिणद्धं गुणैः परिपूर्णं गुणवन्तं पुनः विगुणं गुणरहितं निर्गुणं च न जानन्ति गुणवन्तं निर्गुणं च सदृशमेव पश्यति। पुनः कृत्यं करणीयं कर्तुं योग्यं वस्तु न जानन्ति। पुनः अकृत्यं कर्तुमनुचितं अयोग्यं न जानन्ति। कृत्याकृत्यविवेकं न जानन्तीत्यर्थः। पुनर्निपुणं सचातुर्यं च सम्यक् यथा स्यात्तथा आत्मनो हितं सुखकारणं न जानन्ति। पुनः अहितं च अशुभकारणं च न जानन्ति जिनवचनश्रवणं विना शुभाशुभयोरन्तरं न जानन्ति। एवं ज्ञात्वा श्रीजिनप्रणीतसिद्धान्तानां श्रवणं कर्तव्यं। कुर्वतां च सतां यत्पुण्यमुत्पद्यते तत्पुण्यप्रसादादुत्तरोत्तरमाङ्गलिक्यमाला विस्तरन्तु॥ १७॥

अर्थ—सर्वज्ञ वीतराग के स्याद्वाद (अनेकान्त) गर्भित वचन रूपी नेत्रों से रहित पुरुष देव अदेव को नहीं देखते हैं, सुगुरु कुगुरु को नहीं देखते, धर्म अधर्म को नहीं देखते, गुणवान निर्गुण को नहीं देखते, करने योग्य और न करने योग्य कार्य को नहीं देखते, और हित अहित को भी अच्छी तरह नहीं देखते अर्थात् जो सर्वज्ञ वीतराग प्रणीत जैन शास्त्रों को रुचि (श्रद्धा) पूर्वक सुनते और पढते हैं उन्हें भले बुरे का ज्ञान अच्छी तरह होता है अत गृहकार्य छोड़कर भी जैन शास्त्रों का अभ्यास करना चाहिये।

शार्दूलविक्रीडितछन्द

मानुष्य निफल वदति हृदय व्यर्थं वृथा श्रोत्रयो
निर्माण गुणदोषभेदकलना तेषामसभाविनीम् ।
दुर्वार नरकान्धकूपपतन मुक्ति बुधा दुर्लभा
सार्वज्ञः समयो दयारसमयो येषा न कर्णातिथिः ॥१८॥

व्याख्या—सार्वज्ञ सर्वज्ञप्रणीत श्रीवीतरागदेवेन भाषित समय आगमो येषा पुरुषाणा कर्णातिथि कर्णगोचरो न जातो यै नं श्रुत बुधा पडितास्तेषा मनुष्याणा मानुष्य मनुष्यजन्म विफल निष्फल वदन्ति। लब्धमप्यलब्ध कथयन्ति। तेषा हृदय चित्त व्यर्थं निरर्थक शून्य वदन्ति। पुन तेषाश्रोत्रयो कर्णयो निर्माण करण वृथा निष्फल वदन्ति। पुनस्तेषा गुणाना दोषाणा च यो भेदोऽन्तर तस्य कलना विचारणा असभाविनीं अर्थात् दुर्लभा वदन्ति। पुन नरकमेव अधकूपस्तृणवल्लीवितानाच्छादित कूपस्तत्र पतन दुर्वार

वारयितुमशक्य कथयति । पुनस्तेषा मुक्ति दुर्लभा कथयति । जिनागमश्रवण विना मुक्ति मोक्ष न प्राप्नुवति । अत श्रीजिनागमश्रवणमेव कर्तव्य भाव विनापि श्रुत हिताय भवति । यथा द्वेपेपि बोधकवच श्रवण विधाय, स्याद्रौहिणे इव जन्तुरुदारलाभ । कवायोप्यपिऽयोपि सरुजा सुगदोरविर्वा सतापको विनगदगभृता हिताय इति ज्ञात्वा जिनवचनस्य श्रवण कर्तव्य कुर्वता । च सता यत्पुण्यमुत्पद्यते तत्पुण्यप्रसादादुत्तरोत्तरमागलिकमाला विस्तर तु ॥ १८ ॥

अर्थ—दयामयी सर्वज्ञ प्रणीत सिद्धान्त जिन जीवों के कानों के अतिथि नहीं बने हैं अर्थात् जो वीतराग प्रणीत शास्त्रों को नहीं सुनते हैं उन मनुष्यों का मनुष्य जन्म पाना निष्फल है, हृदय व्यर्थ है, कानों का पाना वृथा है, गुण दोष के भेद ज्ञानकी विचार शक्ति उनके असभव है, नरक रूपी अन्धकूप [कुये] का पतन उनके लिये दुर्वार है अर्थात् ऐसे पापी जीव नरक में अवश्य जाते हैं और मुक्ति पद की प्राप्ति तो ऐसे जीवों को अत्यन्त दुर्लभ है ऐसा विद्वान् ज्ञानी पुरुष कहते हैं।

शार्दूलविक्रीडितछन्द

पीयूष विषवज्जल ज्वलनवत्तेजस्तम स्तोमवत्
मित्र शात्रववत्स्रज भुजगवच्चिंतामर्णि लोष्ठवत् ।
ज्योत्स्ना ग्रीष्मजधर्मवत्स मनुते कारुण्यपण्यापण
जैनेन्द्र मतमन्यदर्शनसम यो दुर्मति र्मन्यते ॥ १९ ॥

व्याख्या—यो दुर्मति मूर्ख पुमान् जैनेन्द्र मत श्रीजिनशासन अन्यदर्शनसम अन्यदर्शनै बौद्धनैयायिकसांख्यवैशेषिक-

लेमनीयादिभि सम सदृश मन्यते गणयति स मूर्खः पीयूष अमृत विषवत् विषेण तुल्य मनुते गणयति। पुनर्जलं परमशीतल पानीय ज्वलनवत् अग्नितुल्य गणयति। पुन तेज उद्योत तम स्तोमवत् अन्धकारपुञ्जवत् मनुते पुनर्मित्र सखाय शात्रववत् वैरिसदृश मनुते जानाति। पुन स्रज पुष्पमाला भुजगवरसर्पतुल्य गणयति। पुन स चिंतामणिरत्न लोष्ठवत् पाषाणसदृश गणयति। पुन स ज्योत्स्ना कौमुदी चन्द्रकांति ग्रीष्मजघर्मवत उष्णकाल आतपवत् मनुते। अत्र पीयूषादिसम जिनदर्शन विषादिसदृशान्यदर्शनानीत्युपनय। किं भूत जैनेन्द्र मत कारुण्यपण्यापण दयारूपक्रयाणकस्यहट्ट। एव मत्वा श्रीजिनमतमेवाङ्गीकर्तव्य। कुर्वता च मता यत्पुण्यमुत्पद्यते तत्पुण्य-प्रसादादुत्तरोत्तरमाङ्गलिक्यमाला विस्तरन्तु ॥ १६ ॥

अर्थ—जो दुर्बुद्धि जैनेन्द्र दर्शन (मत) को अन्य मिथ्या दर्शनों के समान समझता है वह अमृत को विष तुल्य, जल को अग्नि-समान, प्रकाश को अधकार के समूह तुल्य, मित्र को शत्रु समान, पुष्पमाला को सर्प समान चिन्तामणि रत्न को पत्थर तुल्य चन्द्रमा की ठंडी चांदनी को ग्रीष्म ऋतु की गर्म धूप समान गर्म समझता है।

शार्दूलविक्रीडितछन्द

धर्मं जागरयत्यघं विघटयत्युत्थापयत्युत्पथं
भिंत्तेमत्सरमुच्छिनत्ति कुनयं मथ्नाति मिथ्यामतिं ।
वैराग्यं वितनोति पुष्यति कृपां मुष्णाति तृष्णां च यत्
तज्जैनं मतमर्चति प्रथयति ध्यायत्यधीते कृती ॥२०॥

व्याख्या—कृती पठित यज्जैनेन्द्र मत श्रीजिनशासन जिनोक्त वचन अर्च्चति पूजयति। पुन प्रथयति विस्तारयति। पुन ध्यायति चिन्तयति। पुन अधीते पठति तत् स धर्म जागरयति धमस्य जागरय दीपन करोति। पुन अघ पाप विघटयति दूरी करोति। पुन उत्पथ उन्मार्ग अनाचार उत्थापयति निवारयति। पुनर्मत्सर गुणिषु द्वेषभाव भि ते भेदयति। पुन कुनय कुत्सितनय अन्याय उच्छिनत्ति उन्मूलयति पुन मिथ्यामति मथ्नाति कूटबुद्धिं विलोक्य दूरीकरोति। पुनर्वैराग्य तनोति विस्तारयति। पुन कृपा दया पुष्यति पोषयति। पुनस्तृष्णां स्पृहा लोभ मुष्णाति निराकरोति अयात् येन जिनमतमाराधित तेन एतानि वस्तूनि निष्टतानि इत्यथ । भो भव्यप्राणिन् । इति ज्ञात्वा मनसि विवेकमानीय श्रीजिनमतप्रणीतसिद्धान्त च सम्यगाराधनीय। आराधयता च मता यत्पुण्यमुत्पद्यते तत्पुण्यप्रसादादुत्तरोत्तरमाग लिक्यमाला विस्तरन्तु ॥ २० ॥

अथ—जो जैन मत उत्तम क्षमा आदि रूप धर्म को प्रकाश मान करता है, पाप को हटाता है, उत्पथअयात् मिथ्यामार्ग का खण्डन करता है, मत्सरता (ईर्ष्या) का भेदन करता है, नाश करता है, एकान्तवाद का खण्डन करता है मिथ्याबुद्धि को दूर करता है, वैराग्य को बढ़ाता है दया को पुष्ट करता है और तृष्णा का शोषण करता है ऐसे हितकर जिनमत [जिनागम] की सुकृतात्मा पुरुष पूजा करता है प्रचार करता है, आराधना करता है, और पढ़ता पढ़ाता है ॥ २० ॥ वह व्यक्ति उभयलोक में सुखी होता है।

इति जिनमतप्रस्ताव

अथ चतुर्भिर्वृत्तैः सघस्य महिमानमाह—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

रत्नानामिव रोहणक्षितिधरः ख तारकाणामिव
स्वर्गः कल्पमहीरुहामिव सरः पङ्केरुहाणामिव ।
पाथोधिः पयसामिवेन्दुमहसा स्थान गुणानामसा—
वित्यालोच्य विरच्यतां भगवतः सघस्य पूजाविधिः ॥२१॥

व्याख्या—भो भव्या इत्यालोच्य इति विचार्य भगवत पूज्यस्य सघस्य पूजाविधिर्विरच्यता इतीति किं यत असौ सघ साधुसाध्वीश्रावकश्राविकारूपश्च चतुर्विधसघ सर्वगुणाना ज्ञानदर्शनचारित्रविनयादीना स्थान निवास । क केषामिव । रोहणक्षितिधर । रोहणश्चासौ क्षितिधरश्च पर्वतश्च रत्नानामिव यथा रोहणाचलो रत्नाना स्थान तथेत्यर्थ । पुन ख आकाश तारकाणामिव पुनर्यथा स्वर्ग कल्पमहीरुहा कल्पवृक्षाणा स्थान तथेत्यर्थ । पुनर्यथा । सरस्तडाग पकेरुहाणा कमलाना स्थान तथा । पुनर्यथा पाथोधि समुद्र पयसा पानीयाना स्थान तथा किंभूताना पयसा इदुमहसा इदुवन्निर्मलाना अथवा शशीत्र महसा इति वा पाठ । यथा शशी चन्द्रो महसा तेजसा स्थान तथासौ सघो गुणाना स्थान । इदुवत् महो येषा तानि इदुमहासि तेषा एव श्रीचतुर्विधसघ सर्वगुणाना स्थान इति ज्ञात्वा श्रीसघस्य भक्ति कार्या । कुर्वता च सता यत्पुण्यमुत्पद्यते तत्पुण्यप्रसादादुत्तरोत्तरमागलिक्यमाला विस्तरन्तु ॥ २१ ॥

अर्थ—जैसे रत्नोंकी उत्पत्ति का स्थान पर्वत होता है ताराओंका स्थान आकाश होता है, कल्पवृक्षों का स्थान स्वर्ग होता है, कमलोंकी उत्पत्तिका स्थान सरोवर [तालाब] होता है, और अगाध जल का स्थान समुद्र होता है उसी प्रकार भगवान जिनेंद्र देवकी आज्ञानुसार चलने वाला मुनि आर्यिका श्रावक श्राविकाओं का संघ चन्द्रमाके समान निर्मल गुणोंका स्थान होता है ऐसा विचार कर उसकी [संघकी] पूजा—सत्कार करना चाहिये।

शार्दूलविक्रीडितछन्द

यः संसारनिरासलालसमतिर्मुक्त्यर्थमुत्तिष्ठते
यं तीर्थं कथयन्ति पावनतया येनास्ति नान्यः समः।
यस्मै [1]स्वर्गपतिर्नमस्यति सतां यस्माच्छुभं जायते
स्फूर्तिर्यस्य परा वसंति च गुणा यस्मिन्स संघोऽर्च्यताम् ॥२२॥

व्याख्या—भो भव्या भवद्भिः स श्रीचतुर्विधसंघः अर्च्यतां पूज्यतां सः कः यः संघः संसारनिरासलालसमतिः सन् संसारस्य निरासे निराकरणे त्यागे लालसा इच्छा यस्याः सा ईदृशीमतिः बुद्धिर्यस्य सः ईदृशः सन् मुक्त्यर्थं मुक्तिसाधनार्थं उत्तिष्ठते सावधानो भवति। पुनः यं संघं पावनतया पवित्रत्वेन तीर्थीभूतं कथयति। पुनः येन संघेन समं सदृशोऽन्यः कोपि नास्ति। पुनर्यस्मै संघाय स्वर्गपतिः देवपतिः इंद्रः स्वयं नमस्यति नमस्कारं करोति। पुनर्यस्मात् संघात् सतां सज्जनानां शुभं कल्याणं जायते उत्पद्यते। पुनर्यस्य संघस्य स्फूर्तिर्महिमा परा उत्कृष्टा वर्तते। पुनर्यस्मिन् संघे गुणा गाम्भीर्य

१ देवपति नमस्यति इति पाठान्तरम्।

धैर्यादय मूलगुणोत्तरगुणाश्च वसति तिष्ठन्ति। एव ज्ञात्वा भो भव्यप्राणिन्! मनसि विवेकमानीय श्रीसघस्य पूजा भक्तिश्च प्रकर्तव्या कुर्वता च यत् पुण्यमुत्पद्यते तत्पुण्यप्रसादादुत्तरोत्तरमागलिक्यमाला विस्तरन्तु ॥ २२ ॥

अर्थ—जो ससार के विषय भोगों में वाछा रहित बुद्धि वाला है तथा मुक्ति प्राप्ति के लिये सतत प्रयत्नशील है, रत्नत्रयादि गुणों से पवित्र आत्मा होने के कारण जिसको महापुरुष तीर्थ कहते हैं जिस [चतुर्विध सघ] के समान कोई दूसरा तीर्थ नहीं कहा जा सकता [वस्तुत तीर्थ वही है जहाँ पवित्रात्मा आत्म कल्याण करते हैं] जिसके लिए इन्द्रादि देव नमस्कार करते हैं, जिससे [चतुर्विध सघ से] ससार के जीवों का कल्याण [उत्थान] होता है, जिसकी महिमा उत्कृष्ट है, जिसमें सब गुणों का निवास है अर्थात् जो गुणों का भण्डार है ऐसा चार प्रकार का सघ प्रत्येक प्राणी द्वारा पूजा के योग्य है अर्थात चतुर्विध सघ की मन वचन काय से पूजा सेवा करना चाहिये इसी में प्रत्येक प्राणी का कल्याण निहित है।

इस विषय में श्री सोमदेव आचार्य की उक्ति है—

कलौ काले चले चित्ते, देहे चान्नादिकीटके।
एतच्चित्र यदद्यापि, जिनरूपधरा नरा ॥

इसका अर्थ यह है कि यह पचम काल हुण्डावसर्पिणी का काल बड़ा भयकर है प्राय लोगों की मनोवृत्ति चचल है-स्थिर नहीं है, शरीर अन्नका कीड़ा बन रहा है जिनके रात दिन एकसा है खाने पीने का रात दिन का कोई विचार नहीं है ऐसे कलिकाल

में यदि जिनलिंग के धारी मुनि, आर्यिकादि विद्यमान हैं पाये जाते हैं तो यह बड़े आश्चर्य की बात है ॥ २२ ॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

लक्ष्मीस्तं स्वयमभ्युपैति रभसात्कीर्तिस्तमालिंगति
प्रीतिस्तं भजते मतिः प्रयतते तं लब्धुमुत्कण्ठया।
स्वःश्रीस्तं परिरब्धुमिच्छति मुहुर्मुक्तिस्तमालोकते
यः संघं गुणराशिकेलिसदनं श्रेयोरुचिः सेवते ॥२३॥

व्याख्या—यः पुमान् श्रेयोरुचिः सन् श्रेयसि कल्याणे धर्मे वा रुचिरभिलाषो यस्य स श्रेयोरुचिः ईदृशः सन् श्रीसंघं सेवते तं पुरुषं लक्ष्मीः संपत् रभसा वेगेन स्वयमात्मना अभ्युपैति संमुखमायाति। पुनः कीर्तिस्तं पुरुषं आलिङ्गति आलिङ्गनं ददाति। पुनः प्रीतिः स्नेहस्तं भजते सेवते। पुनर्मतिर्बुद्धिः उत्कण्ठया उत्सुकतया कृत्वा तं नरं लब्धुं प्राप्तुं प्रयतते यत्नं करोति। पुनः स्वःश्रीः स्वर्गलक्ष्मीस्तं मुहुर्वारं वारं परिरब्धुं आलिङ्गितुमिच्छति। पुनर्मुक्तिः मोक्षस्तं पुरुषं आलोकते पश्यति। किंविशिष्टं संघं गुणराशिकेलिसदनं गुणसमूहस्य क्रीडागृहं एवं ज्ञात्वा संघः सेव्यः ॥ २३ ॥

अर्थ—कल्याण का इच्छुक जो पुरुष रत्नत्रयादि गुणों के क्रीड़ा करने का मन्दिर जो चतुर्विध संघ (जिनसंघ) की सेवा करता है, लक्ष्मी उसे शीघ्र ही चारों तरफ से प्राप्त होती है, कीर्ति उसका आलिंगन करती है अर्थात् उसकी सर्वत्र कीर्ति विस्तृत होती है, प्रीति सेवा करती है [उससे सभी प्राणी स्नेह करते हैं, उसे

चाहते हैं] सुबुद्धि उसको उत्कण्ठा से प्राप्त करने का प्रयत्न करती है अर्थात् उसे शीघ्र ही सम्यग्ज्ञान [आत्मज्ञान] की प्राप्ति होती है, स्वर्ग की लक्ष्मी उसे प्राप्त करने के लिए बार बार इच्छा करती है और तो क्या ? मुक्ति उसके देखने की प्रतीक्षा करती है ॥ २३ ॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

यद्भक्तेः फलमर्हदादिपदवीमुख्यं कृषेः शस्यवत्।
चक्रित्वत्रिदशेन्द्रतादितृणवत् प्रासङ्गिकं गीयते ॥
शक्तिं यन्महिमस्तुतौ न दधते वाचोऽपि वाचस्पतेः।
संघः सोऽघहरः पुनातु चरणन्यासैः सतां मंदिरं ॥२४॥

व्याख्या—स श्रीसंघश्चरणन्यासैः स्वपादस्थापनैः कृत्वा सतां सत्पुरुषाणां साधुमनुष्याणां मंदिरं गृहं पुनातु पवित्रयतु। स कः यद्भक्तेः यस्य संघस्य भक्तेः अर्हदादिपदवी तीर्थंकरादिपदप्राप्तिः मुख्यं फलं वर्तते किंवत् कृषेः क्षेत्रादेः शस्यवत् धान्यवत् चक्रित्वत्रिदशेंद्रतादिचक्रवर्तित्व इन्द्रपदत्वादिकं चप्रासङ्गिकं प्रसंगादागतं फलं गीयते कथ्यते किंवत् कृषेस्तृणवत् पलालादिवत्। पुनर्यन्महिमस्तुतौ यस्य संघस्य प्रभाववर्णनं यस्मिन् वाचस्पतेरपि वाचो वाण्यः शक्तिं सामर्थ्यं न दधते न धारयंति। किंविशिष्टः संघः अघहरः अघं पापं हरति यः स अघहरः इति ज्ञात्वा श्रीसंघः स्वगृहे आहूय सम्यक् पूजनीयः ॥ २४ ॥

अर्थ—खेती करने का मुख्य उद्देश्य अन्न पैदा करना है, उसी प्रकार संघ की भक्ति का मुख्यफल अरिहन्त आदि पदवी प्राप्त

करना है। खेती का गौण फल घास आदि है, उसी प्रकार भक्ति का गौण फल चक्रवर्ति, इन्द्रपना आदि ससार की विभूति प्राप्त करना है, जिस सघ की महिमा स्तुति करने में बृहस्पति के वचन भी शक्ति नहीं रखते हैं, ऐसा वह पाप का हरण (दूर) करने वाला सघ अपने चरण न्यास से सज्जनों के मन्दिर (घर) को पवित्र करें ऐसा यह आशीवाद सूचक वचन है ॥ २४ ॥

इति सघप्रक्रम

अथ हिंसानिषेधेन सत्वेषु दयैव क्रियतामित्यर्थं ।

क्रीडाभू. सुकृतस्य दुष्कृतरज सहारवात्या भवो-
दन्वन्नौर्व्यसनाग्निमेघपटली सकेतदूती श्रियां ।
नि श्रेणिस्त्रिदिवौकस' प्रियसखी मुक्ते कुगत्यर्गला
सत्वेषु क्रियतां कृपैव भवतु क्लेशैरशेषैः परै ॥२५॥

व्याख्या—भो भव्या सत्वेषु जीवेषु कृपा एव दया एव क्रियता। परैरन्यैरशेषै समस्तै क्लेशै कायकष्टकरणै भवतु पूर्यता मा क्रियतामित्यर्थ। कथभूता कृपा सुकृतस्य पुण्यस्य क्रीडाभू क्रीडास्थान। पुन कथभूता दुष्कृतरज सहारवात्या दुष्कृत पाप तदेव कर्म्ममलहेतुत्वात् रजस्तस्य सहारे सहरणे वात्या वायुसमूहतुल्या। पुन कथभूता भवोदन्वन्नौ भव एव ससार एव उदन्वानिवोदन्वान् समुद्रस्तत्र नौ नौका। पुन' कथभूता व्यसनाग्निमेघपटली व्यसनानि कष्टान्येवतापहेतुत्वात् अग्नयो वह्नयस्तेषु मेघपटली मेघ घटासमाना। पुन कथभूता श्रियां सकेतदूती श्रियां लक्ष्मीनां सकेतदूती सङ्केतकारिका। पुन' कथभूता मुक्ते प्रियसखी मुक्ते

मोक्षस्य पदस्या। पुन कथभूता कुगत्यर्गला कुगतेर्दुर्गते अर्गला द्वारपरिघ इति ज्ञात्वा जीवेषु कृपा एव क्रियता ॥ २५ ॥

अर्थ—उपरोक्त श्लोक में आचार्य ने दया का माहात्म्य दिखाया है, कि-छह काय के जीवों की रक्षा रूप दया कर। यही सब जप तपादि हैं। यदि तू जपतपादि करता है और दया पालन नहीं करता तो वह सब व्यर्थ है। वह दया कैसी है? पुण्य की क्रीडा करने की भूमि है, पाप रूपी रज [धूल] को नष्ट करने के लिये पवन के समान है, ससाररूपी समुद्र को तिरने के लिये नाव के समान है, व्यसन रूपी अग्नि को बुझाने के लिये मेघवृष्टि है, लक्ष्मी को बुलाने के लिये दूती समान है, स्वर्ग के चढने के लिये नसैनी समान है, मुक्ति की प्यारी सखी है, और कुगतिगमन के रोकने को आगल समान है, ऐसी कृपा जीवों पर करो अन्य दूसरे किसी क्लेश को सहन करने से क्या लाभ है। दया ही सर्व श्रेष्ठ है, ऐसा जान कर समस्त जीवों पर दया करना योग्य है।

शिखरिणीछन्द

यदि ग्रावा तोये तरति तरणिर्यद्युदयते।
प्रतीच्या सप्तार्चिर्यदि भजति शैत्य कथमपि ॥
यदि क्ष्मापीठ स्यादुपरि सकलस्यापि जगतः।
प्रसूते सत्त्वाना तदपि न वधः क्वापि सुकृत ॥२६॥

व्याख्या—यदि ग्रावा पाषाणस्तोये जले तरति। पुनर्यदि तरणि सूर्य प्रतीच्या पश्चिमाया दिशि उदयति। पुन. सप्तार्चिश्च

व्याख्या—कृपार्द्रांतर कृपया आर्द्र अन्तर मध्य यस्य तत् कृपार्द्रांतरं इदृशं चेत चित्त करोति स पुमान् स्वाय आयु र्जीवित दीर्घतर अधिक करोति। तथा वपु शरीर वरतर अति प्रधान करोति। पुनर्गोत्र नाम कुल वा गरीयस्तर अतिगरिष्ट उच्चै-र्गोत्ररूप करोति। पुनर्वित्त धन भूरितर अतिप्रचुर करोति। पुनर्बल वीर्य बहुतर प्राज्य करोति। स्वामित्व प्रभुत्व उच्चैस्तरं सर्वोत्कृष्ट करोति। तथा आरोग्य नीरोगत्व विगतान्तरं अन्तररहित निरन्तर करोति। तथा त्रिजगतस्य त्रिभुवनस्य श्लाघ्यत्व श्लाघनीयत्व अल्पे तर प्रचुर करोति। त्रिभुवनमपि स श्लाघते। तथा ससाराम्बुनिधि भवसमुद्र सुतर सुखेन तरीतुं शक्य करोति। दयासहित चेत एतानि वस्तूनि करोति सम्पादयति अत कारणात् सर्वे जीवेषु दयैव कर्त-व्या। अत्रमेघरथराज्ञो दृष्टान्त। तथा हरिबलधीवरस्य च दृष्टातो ज्ञान्य ॥ २८ ॥ इति अहिंसा प्रक्रम।

अर्थ—दया से आर्द्र अर्थात् भीगा है चित्त जिसका ऐसा पुरुष अपनी आयु को बढ़ाता है, शरीर को मनोज्ञ करता है, गोत्र को बढ़ाता है, बल को बढ़ाता है स्वामीपना को उच्च करता है आरोग्यता को अन्तराय रहित करता है तीनलोक में अधिक प्रशसा का भाजन होता है, ससार समुद्र को आसानी से पार करता है।

भावार्थ—दयालु पुरुष दीर्घायु होते हैं, मनोज्ञ शरीर प्राप्त करते हैं, प्रशस्त गोत्र प्राप्त पाते हैं, अधिक वैभव शाली होते हैं, बलिष्ठ होते हैं, अनेक पुरुष जिनके आगे नतमस्तक होते हैं, ऐसा स्वामित्व प्राप्त करते हैं, सदा आरोग्य शरीरवाले होते हैं, तीन लोक में यश के भाजन होते हैं वे ससार पार कर मुक्तिपद पाते हैं ॥ २८ ॥

अथ सत्यवचनस्य प्रभाव प्रकटयति—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

विश्वासायतन विपत्तिदलन देवैः कृताराधन।
मुक्तेः पथ्यदन जलाग्निशमन व्याघ्रोरगस्तम्भन ॥
श्रेयस्सवनन समृद्धिजनन सौजन्यसजीवन।
कीर्ते' केलिवन प्रभावभवन सत्य वच पावन ॥२९॥

व्याख्या—भो भव्या'। सत्य वचो हित प्रिय वदत्विति शेष। कथभूत सत्य वच' विश्वासायतन विश्वासस्य आयतन स्थान पुन' कथभूत विपत्तिदलन विपत्तीना आपदा स्फेटक। पुन कथभूत देवै सुरै कृताराधन सेवन यस्य तत्। पुनर्मुक्ते' सिद्धे पथि मार्गे अदन सबल। तथा जलाग्निशमन जलाग्न्यो' उपशामक। पुन कथभूत व्याघ्रोरगस्तम्भन व्याघ्राणा सिंहाना उरगाणा सर्पाणा च स्तम्भकारक। पुन श्रयसो मोक्षस्य कल्याणस्य वा सवनन वशीकरण। पुन समृद्धिजनन समृद्धीना सपदा सपादक। पुन कथभूत सौजन्यसजीवन सुजनताया सजीवा समुत्पादक। तथा कीर्त्तेर्यशस केलिवा क्रीडावा। पुन कथभूत प्रभावभवन प्रभावस्य महिम्नो गृह। पुन कथभूत पाव्ा पवित्रकारकमित्यर्थ ॥ २६ ॥

अर्थ—सत्य वचन कैसा है ? विश्वास का घर है विपत्ति को दूर करने वाला है, देवों के द्वारा जिसका आराधन किया गया है, मुक्ति के लिये पाथेय (कलेवा) समान है, जल और अग्नि को शान्त करने वाला है अर्थात् सत्य के प्रताप से जल, तथा अग्नि का

भय, या महान् संकट भी शान्त हो जाता है, व्याघ्र (साँप) सर्प को स्तम्भन करने वाला है, कल्याण का वशीकरण है अर्थात् कल्याण का गृह है समृद्धि को पैदा करने वाला है, सज्जनता का जीवन है, कीर्ति का क्रीडावन है, प्रभाव का मंदिर है, ऐसा पवित्र सत्यवचन निरन्तर बोलना योग्य है ॥ २९ ॥

पुनरसत्यवचनस्य दोषानाह—

शिखरिणीछन्द

यशो यस्माद्भस्मीभवति वनवह्नेरिव वनं ।
निदानं दुःखानां यदवनिरुहाणां जलमिव ॥
न यत्र स्याच्छायाऽऽतप इव तपः संयमकथा ।
कथंचित्तन्मिथ्यावचनमभिधत्ते न मतिमान् ॥३०॥

व्याख्या—स मतिमान् बुद्धिमान् पुमान् कथंचित् कष्टेऽपि सति तन्मिथ्यावचनं असत्यवचनं न अभिधत्ते न जल्पति । तत् किं यस्मान्मिथ्यावचनाद्यशः कीर्तिर्भस्मीभवति विनश्यति । कस्मात्किमिव । वनवह्नेर्दावाग्नेर्वनमिव । यथा दावानलात् वनं भस्मीभवति तथा । पुनर्यन्मिथ्यावचः दुःखानां निदानं कारणं । केषां किमिव अवनिरुहाणां वृक्षाणां जलमिव । यथा जलं वृक्षाणां कारणं तथा । पुनर्यत्र मिथ्यावचने तपः संयमकथा तपश्चारित्रयो वार्तापि न । कस्मिन् का इव । आतपे सूर्यातपे छाया इव । यथा आतपे छाया न स्यात् तथा ॥ ३० ॥

अर्थ—जिस असत्य वचन से यश इस प्रकार नष्ट हो जाता है जैसे वन की अग्नि (दावानल) से वन भस्म हो जाता है । जो

असत्य वचन वृक्षों के लिये जल के समान दुःखों का मुख्य कारण है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जल यद्यपि वृक्षों की वृद्धि का कारण है—जल सींचने से वृक्ष बढते हैं परन्तु अधिक जलप्रवाह (जलधारा) से वृक्षों की जडें कट जाती हैं और वृक्ष पृथ्वी पर गिर जाते हैं, उसी प्रकार असत्य भाषण से अनेक दुख सकटों के बादल सिर पर मडराते हैं तथा जिसप्रकार धूप में छाया के सुख का अनुभव नहीं होता उसी प्रकार झूठ वचन बोलने वाले व्यक्ति को तप और सयम के सुख का अनुभव स्वप्न में भी नहीं होता अत असत्यवचन के उपरोक्त दोष जानकर असत्य सर्वथा त्याज्य है ॥ ३० ॥

वशस्थछन्द

असत्यमप्रत्ययमूलकारणम्
कुवासनासद्म समृद्धिवारणम् ।
विपन्निदान परवचनोर्जित
कृतापराधं कृतिभिर्विवर्जितम् ॥३१॥

व्याख्या—इति कारणात् कृतिभि' पडितै असत्य कूट विशेषेण वर्जित परिहृत यतोऽसत्य अप्रत्ययमूलकारण अविश्वासस्य मूलहेतु । पुन कुवासनाया कुबुद्धेः पापबुद्धे सद्म गृह । पुन. समृद्धिवारण समृद्धेर्लक्ष्म्या वारण निराकरण । पुनर्विपन्निदान विपदा कष्टाना निदान कारण । पुन' परवचनोर्जित परेषा वचने विप्रतारणे ऊर्जितं बलिष्ठ । पुन' कृतापराध कृत' अपराध आगः यस्य तत् । अतएवासत्यवचन न वक्तव्य ॥ ३१ ॥

अर्थ—असत्य वचन अविश्वास का मुख्य कारण है अर्थात् असत्यभाषी (झूठ वचन बोलने वाले) का कोई विश्वास नहीं करता, खोटी वासनाओं (बुरेविचारों) को पैदा करने वाला है समृद्धि को निवारण करने वाला है अर्थात् झूठ वचन से धन वैभव सब नष्ट हो जाता है विपत्तिका मूल कारण है पर के ठगपने सहित है अर्थात् झूठा व्यक्ति सदा दूसरों को ठगता रहता है, असत्यभाषी अनेकों अपराध करता है ऐसा असत्य वचन सत्पुरुषा द्वारा सदा त्यागने योग्य है ॥ ३१ ॥

अथ सत्यप्रभाव दर्शयति—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

तस्याग्निर्जलमर्णव॰ स्थलमरिर्मित्र सुरा किंकरा॰
कान्तार नगर गिरिर्गृहमहिर्माल्य मृगारिर्मृग॰ ।
पाताल बिममस्त्रमुत्पलदल व्याल शृगालो विष
पीयूष विषम सम च वचन सत्याञ्चित वक्ति य. ॥३२॥

व्याख्या—य॰ पुमान् सत्याञ्चितं सत्ययुक्त वचो वचन वक्ति ब्रूते । तस्य पुंसोऽग्निर्वह्नि॰ सत्यप्रभावाज्जल स्यात् । तथार्णव समुद्र॰ स्थल स्यात् । तथा अरि शत्रुर्मित्र स्यात् । पुन सुरा देवा किंकरा॰ सेवका आदेशकारिण स्यु । पुन॰ कान्तार अरण्य नगर स्यात् । तथा गिरि पर्वतो गृह स्यात् । पुनरहि सर्पो माल्यं स्रक् स्यात् । तथामृगारि॰ सिंहो हरिण इव स्यात् । तथा पाताल रसातल बिल बिलरूप स्यात् । तथा अस्त्र शस्त्र उत्पलदल कमलपत्रसदृश

स्यात्। तथा व्यालो दुष्टगज शृगाल इव स्यात्। पुनर्विष हालाहल पीयूष अमृतं स्यात्। विषम सकट स्यात् सम सपद्रूप स्यात्। सत्य-प्रभावादत सत्यमेव वक्तव्य। अत्र वसुराजा पर्वत नारददृष्टान्तः ॥ ३२ ॥

इत्यनृतप्रक्रम ।

अर्थ—जो पुरुष सत्यवचन बोलता है उसके अग्नि जल रूप में परिणत हो जाती है समुद्र स्थल रूप हो जाता है, शत्रु मित्र हो जाता है, देव नौकर हो जाते हैं, वन नगर, तथा पर्वत महल हो जाता है, सर्प फूलों की माला हो जाता है, सिंह हिरण के समान हो जाता है, पाताल बिल के तुल्य हो जाता है, शस्त्र कमल पत्र के समान हो जाते हैं, भयकर हाथी स्याल (गीदड़) समान हो जाता है, विष अमृत रूप तथा विषम वस्तु सम रूप में परिणत हो जाती है। यह सत्य वचन का ही प्रभाव है। सत्यके प्रतापसे ससार की सब दुर्लभ वस्तुयें सुलभता से प्राप्त होती हैं ऐसा जान कर सदा सत्य व्यवहार करना योग्य है ॥ ३२ ॥

अथ अदत्तादानवृत्तमाह—

मालिनीछन्द

तमभिलषति सिद्धिस्त वृणीते समृद्धिस्
तमभिसरति कीर्तिर्मुञ्चते तं भवार्तिः ।
स्पृहयति सुगतिस्त नेक्षते दुर्गतिस्तं
परिहरति विपत्त यो न गृह्णात्यदत्तं ॥३३॥

व्याख्या—य पुमान् अदत्त अवितीर्णं प्रस्तावात् परविश किंचिद्वस्तु या न गृह्णाति त पुरुष सिद्धिर्मुक्तिरभिलषति वाञ्छति, पुनस्त समृद्धिरित्वरजादिसम्पद् वृणीते। तथा कीर्तिर्यश स्त अभिसरति प्रत्यागच्छति। भवार्ति ससारपीडा त मुचते त्यजति। तथा सुगतिर्देवमनुष्यरूपा त स्पृहयति वाञ्छति। तथा दुर्गतिर्नरकतिर्यक् रूपा त पुरुष न पश्यति नेक्षते। विपद् आपद् त परिहरति त्यजति स क यो अदत्त न गृह्णाति ॥ ३३ ॥

अर्थ—जो पुरुष गिरा पड़ा भूला, रखा हुआ बिना दिया पदार्थ स्वय नहीं ग्रहण करता और न दूसरों को देता है उस पुरुष की मुक्ति भी अभिलाषा करती है। ऋद्धियां उसका वरण करती हैं कीर्ति उसके चारों ओर फैलती है, ससार की पीड़ा उसे त्याग देती है, उत्तमगति उस चाहती है अथात् वह पुरुष मर कर उत्तम गति पाता है, दुर्गति उस आँख उठा कर भी नहीं देखती, विपत्तियां उसके सिर पर मँडराती नहीं हैं। अदत्तत्यागका ऐसा माहात्म्य जान कर उसका आचरण करना कल्याणकारी है। और भी कहते हैं—

भूयोऽप्यदत्तादानगुणानाह—
शिखरिणीछन्द

अदत्त नादत्ते कृतसुकृतकाम किमपि य
शुभश्रेणिस्तस्मिन्वसति कलहसीव कमले।
विपत्तस्माद्दूरे व्रजति रजनीवाम्बरमणे
र्विनीत विद्येव त्रिदिवशिवलक्ष्मीर्भजति त ॥३४॥

व्याख्या—य पुमान् कृत सुकृते पुण्ये अभिलाषो येन ईदृश सन् अदत्त परकीय किमपि वस्तु नादत्ते न गृह्णाति। तस्मिन् पुंसि शुभश्रेणि कल्याणपरम्परा वसति निवास करोति। कस्मिन् केव कमले कलहंसीव यथा कमले कलहंसी वसति। तथा पुनस्तस्मात्पुरुषात् विपत्कष्ट दूर व्रजति दूरे याति। कस्मात्केव अम्बरमणे' सूर्याद् रजनीव यथा सूर्याद्रात्रिदूरे व्रजति तथा। पुनस्त्रिदिवशिवयो' स्वर्गापवर्गयो र्लक्ष्मी' श्री स्त भजते सेवते क केव विनीत विद्येव यथा विद्या विनीत विनयान्वित पुरुष विद्या भजति आगच्छति तथा॥ ३४॥

अर्थ—की है पुण्य की वांछा जिसने ऐसा जो पुरुष किंचित् मात्र भी बिना दिया हुआ ग्रहण नहीं करता है उसको कमल में कलहंसी के समान कल्याण की परम्परा प्राप्त होती है, सूर्य से जैसे रात्रि दूर भागती है उसी प्रकार उससे विपत्ति दूर भाग जाती है, जैसे विद्या विनम्र पुरुष को प्राप्त होती है वैसे ही उसे स्वर्ग मोक्ष की लक्ष्मी प्राप्त होती है॥ ३४॥

व्यतिरेकेणाह—

शार्दूलविक्रीडितछन्द'

यन्निर्वर्तितकीर्तिधर्मनिधनं सर्वागसां साधनं
प्रोन्मीलद्वधबन्धनं विरचितक्लिष्टाशयोद्बोधनं।
दौर्गत्यैकनिबन्धनं कृतसुगत्याश्लेषसंरोधनं
प्रोत्सर्पत्प्रधनं जिघृक्षति न तद्धीमानदत्तं धनं॥३५॥

व्याख्या—धीमान् विद्वान पुमान् अदत्त धन परकीय वस्तु न जिघृक्षति गृहीतु नेच्छति। तत् किं यत् अदत्त निवर्तितकीर्ति धर्म निधन स्यात्। निवर्तित कृत कीर्तिधर्मयोर्निधन विनाशो येन तत्। तथा सर्वागसा साधन सर्वाणि च तानि अगासि च सर्वागस तेषा सर्वागसा सर्वापराधाना साधन हेतु स्यात्। पुन प्रोन्मीलद्वधबन्धन वधो लकुटादिताडन बन्धो रज्ज्वादिना बन्धन प्रो-न्मीलति प्रगटीभवति वधबन्धनानि यत्र तत्। पुनर्विरचित क्लिष्टाशयोद्बोधन विरचित क्लिष्टाशयस्य दुष्टाभिप्रायस्य उद्बोधन प्रकट येन तत्। पुनर्दौर्गत्यैकनिबंधन। दौर्गत्यस्य दारिद्रस्य एक अद्वितीय निबन्धन कारण। पुन कृतसुगत्याश्लेषसरोधन कृत सुगतेराश्लेषस्य आलिंगनस्य सरोधन निवारण येन तत्। पुन प्रोत्सर्पत्प्रसरत् प्रधन मरण यस्मात् तत् तथा। ईदृश अदत्त धीमान् न जिघृक्षति॥ ३५

अर्थ—बिना दिया हुआ धन कैसा होता है—जिसे ग्रहण करने से कीर्ति और धर्मका नाश हो जाता है समस्त पापों का कारण है जिससे प्राणी का वध बन्धन होता है सक्लेश आशय (भावों) को पैदा करनेवाला है, दुर्गति के बन्ध का अद्वितीय कारण है, सुगति के आलिंगन को रोकने वाला है, जो युद्ध कराने में सहायक है ऐसे बिना दिये धन को बुद्धिमान् पुरुष ग्रहण करने की कभी भी इच्छा नहीं करते॥ ३५॥

पुनरदत्तदोषमाह—

हरिणीछन्द

परजनमनः पीडाक्रीडा वन वधभावना—
भवनमवनिव्यापि व्यापल्लता घनमण्डल।

कुगतिगमने मार्गः स्वर्गापवर्गपुरार्गलं ।
नियतमनुपादेयं स्तेयं नृणां हितकांक्षिणां ॥३६॥

व्याख्या—नियत निश्चित हितकांक्षिणां हितमिच्छतां नृणां पुरुषाणां स्तेयं चौर्यं अनुपादेयं अग्राह्यं भवति। अदत्तं अग्रहणीयं स्यात्। किंभूतं अदत्तं, परजनमनःपीडाक्रीडावनं परे च ते जनाश्च परजनाः तेषां मनांसि चित्तानि तेषां पीडा बाधा तस्याः क्रीडावनं रमणीयोद्यानं। पुनः वधभावनाभवनं वधस्य हिंसाया भावना चिंतनं तस्या गृहं। पुनः अवनिव्यापिव्यापल्लताघनमंडलं अवन्यां व्यापिनी प्रसरणशीला या व्यापत् आपद् सैव लता वल्ली तस्याः घनमंडलं मेघपटलं। पुनः कुगतिगमने मार्गं अध्वा। पुनः स्वर्गापवर्गपुरार्गला, स्वर्गापवर्गावेव देवलोकमोक्षौ एव पुरं नगरं तत्र अर्गला परिघ। ईदृशं स्तेयं हितकांक्षिणां नृणां अग्राह्यं स्यात्। अत्र रोहणीकथा वाच्या ॥ ३६ ॥

इति स्तेय प्रक्रम

अर्थ—चोरी कैसी है– दूसरे मनुष्यों के मनको पीड़ा देना रूपी क्रीड़ा का वन है अर्थात् अपने तथा दूसरे के लिये मन संताप का कारण है, पर के मारने की भावना का घर है अर्थात् चोरी करने वाले के दूसरोंको मारने की भावना बनी रहती है, पृथ्वी में व्याप्त आपत्ति रूपी लता के बढ़ाने को मेघों का समूह है अर्थात् चोरी से अनेक प्रकार की आपत्तियों का सामना करना पड़ता है कुगतिके गमन का सीधा मार्ग है, स्वर्ग तथा मोक्ष रूपी नगर की उत्कृष्ट अर्गला है अथात् चोरी करनेवाला स्वर्ग नहीं जा सकता, इस प्रकार की चोरी हित के वाञ्छक पुरुषों द्वारा अवश्य ही निश्चित

रूप से त्यागने योग्य है ॥ २६ ॥

अथ मैथुनव्रतमाश्रित्योपदेशमाह—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

दत्तस्तेन जगत्यकीर्तिपटहो गोत्रे मषी कूर्चक-
श्चारित्रस्य जलाञ्जलिर्गुणगणारामस्य दावानलः ।
संकेतः सकलापदां शिवपुरद्वारे कपाटो दृढः ॥
कामार्तस्त्यजति प्रमोदयभिदां शस्त्रीं परस्त्रीं न यः ॥२७॥

व्याख्या—यः पुमान् कामार्तः कामपीडितः परस्त्रीं परनारीं न त्यजति तेन पुंसा जगति विश्वे अकीर्तिपटहो दत्तः वादितः । निर्मले गोत्रे स्वकीये वंशे मषीकूर्चको दत्तः । पुनश्चारित्रस्य देशविरतिरूपसर्वविरतिरूपसंयमस्य जलाञ्जलिर्दत्तः । पुनः गुणगणारामस्य दावानलः गुणानां गणाः समूहाः एव आरामाः वनानि तस्य दावानलो दवाग्निर्दत्तः । पुनस्तेन सकलापदां समस्तकष्टानां संकेतो दत्तः मिलनस्थानं कथितं । पुनस्तेन शिवपुरद्वारे मुक्तिनगरीद्वारे दृढः कपाटो दत्तः । शीलरहितस्य मुक्तिगमनायोगात् । पुनः किं विशिष्टां परस्त्रीं प्रभायाः उदयः प्रमोदयः अथवा प्रभाश्च उदयश्च प्रमोदयं तयोर्भिदायां शस्त्रीप्रभा । पाठान्तरे तु शीलं येन निजं विलुप्तमखिलं त्रैलोक्यचिन्तामणिः । येन निजं शीलं विलुप्तम् तेन एतानि वस्तूनि कृतानि ॥ २७ ॥

अर्थ—जिस पुरुष ने तीन लोक में चिन्तामणि रत्न समान

अपना समस्त शील खो दिया उसने जगत में अपकीर्ति (बदनामी) का ढोल बनाया, अपने वश में कालिमा लगाई, चारित्र को जलाञ्जलि देदी, गुणों के समूहरूप बाग में आग लगादी समस्त आपत्तियों का सकेत स्थान कुशील है जिसने शील बिगाड़ा उसने मोक्ष नगर के दरवाजे में दृढ़ता से किवाड़ लगा दिये। ऐसा जान कर कुशील का त्याग करना योग्य है ॥ ३७ ॥

पुन शीलगुणान् यक्ति—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

व्याघ्रव्यालजलानलादिविपदस्तेषा व्रजति क्षय ।
कल्याणानि समुल्लसति विबुधाः सान्निध्यमध्यासते ॥
कीर्ति' स्फूर्तिमियर्ति यात्युपचय धर्मः प्रणश्यत्यघ ।
स्वर्निर्वाणसुखानि सनिदधते ये शीलमाबिभ्रते ॥३८॥

व्याख्या—ये नरा शील ब्रह्मचर्य आबिभ्रते धारयति तेषा पुसा व्याघ्रव्यालजलानलादिविपद क्षय याति। व्याघ्र प्रसिद्ध व्यालो दुष्टगज सर्पो वा जल पानीय नदीसमुद्रादि अनलो वह्निस्तेषा विपद कष्टानि तैः कृता विपद क्षय व्रजति क्षय याति। पुन कल्याणानि श्रेयासि समुल्लसति वृद्धि प्राप्नुवति। पुनस्तेषा विबुधा देवा सानिध्य अध्यासते साहाय कुर्वन्ति। पुनस्तेषा कीर्ति स्फूर्तिमियर्ति विस्तार याति। पुन तेषा धर्मो दानादिविधिरुपचय पोष याति। पुनस्तेषा अघ पाप प्रणश्यति नाश याति। पुनस्तेषा स्वर्निर्वाणसुखानि स्वर्गापवर्गसुखानि सनिदधते समीपमायाति। ये शील बिभ्रते तेषा

एतानि भवति ॥ ३८ ॥

अर्थ—जो पवित्र शीलव्रत पालन करता है वह आसानी से स्वर्ग मोक्ष की रचना करता है। उसे स्वर्ग मोक्ष पाना सरल है वह पापरूपी कीचड़ को धोता है, पुण्य का सचय करता है, जगत में उसकी महिमा फैलती है, देवों के समूहको नमस्कार कराता है अर्थात उसे देव नमस्कार करते हैं घोर उपसर्ग को हनता है अर्थात उसके घोर उपसर्ग दूर हो जाते हैं ॥ ३८ ॥

मालिनीछन्द

हरति कुलकलङ्कं लुपते पापपक।
सुकृतमुपचिनोति श्लाघ्यतामातनोति ॥
नमयति सुरवर्गं हति दुर्गोपसर्ग।
रचयति शुचिशील स्वर्गमोक्षौ सलीलम् ॥३९॥

व्याख्या—पुनश्च शुचि निर्मल शील ब्रह्मव्रत कुलस्य कलक मलिनता हरति नाशयति। पुन शील पापमेव पक कर्दम लुपते छिनत्ति। पुन शुचि निर्मल शुद्ध शील सुकृत पुण्य उपचिनोति वद्धयति। पुन श्लाघ्यता प्रशस्यता आतनोति विस्तारयति। पुन शील सुरवर्ग नमयति देवसमूह नम्रीकरोति। पुन शील दुर्गोपसर्गं रौद्रोपसर्ग उपद्रव हति। पुन शील कर्तृ सलील यथास्यात्तथा लील यैव हेलामात्रेण स्वर्गमोक्षौ रचयति ददातीत्यर्थ ॥ ३६ ॥

अर्थ—जो अखंड शीलव्रत धारण करते हैं, उनके व्याघ्र सर्प जल अग्नि आदि कृत आपत्तियां नष्ट हो जाती हैं, वे कल्याणसे सुशोभित होते हैं, देव सन्मुख आकर नम्र होते हैं, उनकी कीर्ति

स्फुरायमान होती है, धर्म वृद्धि को प्राप्त होता है, पाप नष्ट होता है और स्वर्ग तथा मोक्ष के सुख को प्राप्त करते हैं ॥ ३९ ॥

पुन शीलादिह लोकेऽपि कष्टानि यातीत्याह—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

तोयत्यग्निरपि स्रजत्यहिरपि व्याघ्रोपि सारंगति ।
व्यालोपिश्वति पर्वतोऽप्युपलति क्ष्वेडोऽपि पीयूपति ॥
विघ्नोऽप्युत्सवति प्रियत्यरिरपि क्रीडातडागत्यपा-
नाथोऽपि स्वगृहत्यटव्यपि नृणा शीलप्रभावा[1]द्ध्रुव ॥४०॥

व्याख्या—नृणा मनुष्याणा ध्रुव निश्चित शीलप्रभावात् अग्निरपि तोयति तोयमिवाचरति जलवत् शीतल स्यात्। तथा अहिरपि सर्पोपि स्रजति स्रगिवाचरति पुष्पमाला इवाचरति पुन शीलप्रभावातद् व्याघ्रोऽपि सिंहोपि सारगति सारग इव हरिण इवाचरति। पुनर्व्यालोपि दुष्टगजोपि अश्वति अश्व इवाचरति तथा विषम पर्वतोपि उपलति उपल इवाचरति सामान्य-पाषाण इवाचरति पुन क्ष्वेडोपि विषमपि पीयूपति पीयूष इवाचरति अमृतमिवाचरतीत्यर्थ । विघ्नोप्यतरायोपि आपदपि उत्सवति उत्सव इवाचरति। विघ्नोप्युत्सव एव भवति। तथा अरिरपि शत्रुरपि प्रियति प्रिय इवाचरति। शत्रुरपि प्रिय एव भवति। तथा अपाना-थोपि समुद्रोऽपि क्रीडातडागति खेलनसरोवर इवाचरति। अटव्यपि अरण्यमपि स्वगृहति स्वगृहमिवाचरति। नृणा शीलप्रभावादेतानि

[1] शीलप्रभावान्नृणाम् इति पाठान्तरम्।

वस्तूनि भवति ॥ ४० ॥ सुदर्शन श्रेष्ठि वकचूलि रावणकथा वाच्या इति ब्रह्म प्रक्रम ।

अर्थ—मनुष्यों के शील के प्रभाव से निश्चय ही अग्नि भी जल रूप में परिणत हो जाती है, सर्प पुष्पमाला रूप हो जाता है, बाघ हिरण के भाव को प्राप्त हो जाता है, भयंकर हस्ती घोड़े के भाव को प्राप्त हो जाता है महान पर्वत भी छोटे पत्थर रूप हो जाता है, विष अमृत में परिणत हो जाता है, विघ्नकारक पदार्थ उत्सव रूप में परिणमते हैं, शत्रु भी मित्र सरीखा व्यवहार करने लग जाता है, समुद्र भी क्रीडा करने का तालाब रूप हो जाता है, भयंकर अटवी (वनी) अपने गृह रूप हो जाती है, ऐसा शील का अद्भुत माहात्म्य जान कर उसे दृढता से पालन करना चाहिये, अनेक सङ्कटों के आने पर भी सुमेरु पर्वत तुल्य अडिग रहना चाहिये इसी से मनुष्य जन्म की शोभा है ।

शीलव्रत के बाबत कहा है—

अङ्कस्थाने भवेच्छील, शून्याकारव्रतादिकम् ।
अङ्कस्थाने पुनर्नष्टे, सर्वं शून्यव्रतादिकम् ॥

अर्थ—शीलव्रत १, २ ३ ४, ५ आदि अङ्कों के समान है, और अहिंसा, सत्य आदि व्रत ० ० ० ० ० शून्यों के समान हैं । १, २ ३, ४, ५ आदि अंकों के अभाव में ००००० शून्यों का मूल्य नहीं है उसी प्रकार शीलव्रत पालन पूर्वक ही व्रतों का परिपालन सफलता का सूचक है । शीलव्रत रहित अहिंसादि का पालन निष्फल है । ब्रह्मचर्य (शील) का माहात्म्य देखिये—

शुचि भूमिगत तोय, शुचिर्नारी पतिव्रता ।
शुचिर्धर्मपरो राजा, ब्रह्मचारी सदा शुचि ॥

अर्थ—भूमिगत कूप का जल शुद्ध होता है, पतिव्रता स्त्री पवित्र होती है, धर्मात्मा राजा पवित्र माना गया है और ब्रह्मचारी पुरुष सदा पवित्र होता है ॥ ४० ॥

अथ परिग्रहदोषानाह—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

कालुष्य जनयन् जडस्य रचयन्धर्मद्रुमोन्मूलन
क्लिश्नन्नीतिकृपाक्षमाकमलिनीं लोभाम्बुधिं वर्द्धयन् ।
मर्यादातटमुद्रुजञ्छुभमनोहसप्रवाम दिशन्
किन्न क्लेशकरः परिग्रहनदीपूरः प्रवृद्धिं गतः ॥४१॥

व्याख्या—परिग्रहो धनधान्यक्षेत्रगृहरूप्यसुवर्णकुप्यद्विपद चतु पदाना सग्रहोमूर्च्छा स एव नदीपूर सरित्प्रवाह प्रवृद्धि गत उपचय प्राप्त सन्। किं क्लेशकर कष्टदायी न स्यात् अपितु स्यादेव। किं कुर्वन् जडस्य परिग्रहसग्रह कर्त्तु मूर्खजनस्य कालुष्य क्लिष्टाध्यवसायत्व जनयन् उत्पादयन् अन्योपि नदीपूरोपि प्रवृद्ध सन् जलस्य पानीयस्य कालुष्य अविलत्व जनयति। डलयोरैक्य जडस्य जलस्य। पुन कि कुर्वन् धर्म एव द्रुमो वृक्ष तस्योन्मूलन उत्पाटनं रचयन् कुर्वन् अन्योपि नदीपूर प्रवृद्धोवृक्षाणा उत्पाटन करोति। पुन किं कुर्वन् नीतिकृपाक्षमाक्मलिनी नीतिर्न्याय कृपा

दया क्षमा क्षांति सा एव कमलिन्य ता विलश्यन् पीडयन् अन्योपि नदीपूर कमलिनी पीडयति। पुन किं कुर्वन् लोभाबुधि वर्द्धयन् लोभ एव अम्बुधि समुद्रस्त वर्द्धयन् वृद्धिं नयन्। "जहालाहो तहा लोहो" इति। पुन किं कुर्वन धर्मस्य मर्यादा एव तटं चरणविधिरूप तट उद्रुजन् पीडयन् भञ्जयन्। अ योपि नदीपूर प्रवृद्ध सन् तट पातयति। पुन किं कुर्वन् शुभमनोहसप्रवास दिशन्। शुभ धर्मध्यान सहित य मनस्तदेव हसस्तस्य प्रवास परदेशगमन दिशन् आदिशन्। अन्योपि नदीपूरो हसान् उड्डापयति (उल्लापयति) ईदृशो मूर्च्छा परिग्रह क्लेशकर स्यात्॥ ४१॥

अथ—इस पद्यमें परिग्रह का वर्णन किया है कि परिग्रह कैसा अनर्थकारक है—हृदय की कलुषता को पैदा करता हुआ, अज्ञानता को रचता हुआ, धर्म रूपी वृक्ष को उखाड़ता हुआ, नीति दया क्षमा रूपी कमलिनी को क्लेश पहुँचाता हुआ, लोभरूपी समुद्र को बढ़ाता हुआ, मर्यादा रूप तट को उखाड़ता हुआ, शुभ मन रूप हस को परदेश गमन कराता हुआ परिग्रह रूपी नदी का प्रवाह वृद्धि को प्राप्त हुआ क्या क्या अनथ नहीं करता कि तु सारे ही अनर्थों का मूल कारण है। इसप्रकार परिग्रह को बुरा जान उसका परिमाण करना योग्य है। अर्थात् लोभ कषाय को रोकनेके लिये परिग्रह की मर्यादा बाधना चाहिये।

भूयोपि परिग्रहदोषानाह—

मालिनीछन्द

कलहकलभविन्ध्य' क्रोधगृध्रश्मशान।
व्यसनभुजगरन्ध्र द्वेषदस्युप्रदोष'॥

सुकृतवनदवाग्निर्मार्दवाम्भोदवायु ।
र्नयनलिनतुषारोऽत्यर्थमर्थानुराग ॥४२॥

व्याख्या—अत्यर्थं अर्थानुराग परिग्रहो परिमूर्छा राग ईदृशोऽस्ति। कथंभूत कलह एव कलभो बालहस्ती तस्य विंध्यो विंध्याचल यथा विंध्याचले कलभ क्रीडति तथा अत्यर्थे अर्थानुरागे द्रव्यरागे कलहो भवति। तथा क्रोधगृध्रश्मशान क्रोध एव गृध्र पक्षिविशेषस्तस्य श्मशान प्रेतवन, यथा गृध्र श्मशाने रमते तथा क्रोध । पुन व्यसनभुजगरन्ध्र व्यसनमेव कष्टमेव भुजग सर्पस्तस्य बिल। पुनर्द्वेषदस्युप्रदोष द्वेष एव दस्युश्चौरस्तस्य प्रदोष सध्यासमय । प्रदोषे चौराणा बल भवति तथा सुकृतवनदवाग्नि सुकृत एव पुण्यमेव वन तस्य दवाग्नि दावानल । पुनर्मार्दवाभोदवायु , मार्दव मृदुत्व कोमलत्व तदेव अमोदो मेघस्तत्र वायु । पुननयनलिनतुषार - नयो न्याय एव नलिन कमल तत्र तुषारो हिम। अत्यर्थं द्रव्यानुरागो लोभो ईदृशोऽस्ति। अतो न कर्तव्य ॥ ४२ ॥

अर्थ—पदार्थों में अतिशय अनुराग सत्पुरुषों द्वारा त्यागने योग्य है। क्यों कि अधिक अनुराग ही परिग्रह है, अधिक ममता से निकृष्ट कर्मों का बन्ध होता है, उसी का वर्णन किया जाता है — कलह (लड़ाई) रूप जो हाथी का बच्चा उसके निवास के लिये विन्ध्याचल पर्वत के तुल्य है अर्थात् परिग्रह ही कलह का कारण है, इसी के कारण भाई भाई का शत्रु बन जाता है, क्रोध रूपी गृद्ध पक्षी के निवास का स्थान-श्मशान के समान है अर्थात् परिग्रह के कारण ही क्रोध उत्पन्न होता है। सात व्यसन रूपी सर्प के बिल के समान हैं, द्वेष रूप चोर को रात्रि के समान

आत्मा तो सम्पूर्ण विभव को छोड़ कर परभव को चला जाता है तो फिर मैं व्यर्थ ही अनेक घोर पापों को क्यों करता हूँ ? ऐसा कभी भी विचार नहीं करता है।

भावार्थ—अगर ससार का समस्त धन भी इसे प्राप्त हो जाय तो भी कभी यह मोही प्राणी सन्तोष धारण नहीं करता। तथा यह जगत का वैभव कभी साथ भी नहीं जाता सब यहीं पर पड़ा रह जाता है तो मैं क्यों पापोपार्जन करू ? जिससे नरक तिर्यञ्च आदि की भयंकर घोर वेदनाओंका सामना करना पड़े ऐसा कभी विचार विमर्श नहीं करता ॥ ४४ ॥

तत्र नदराजाकथा।

अथ क्रोधनयार्थ-मुपदेशमाह—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

यो मित्र मधुनो विकारकरणे सत्राससपादने ।
सर्पस्य प्रतिबिम्बमङ्गदहने, सप्तार्चिष' सोदर' ॥
चैतन्यस्य निषूदने विषतरो, सब्रह्मचारी चिर ।
स क्रोध कुशलाभिलापकुशलै' निर्मूलमुन्मूल्यतां ॥४५॥

व्याख्या—आत्मन श्रेयोवाञ्छाचतुरैनरै स क्रोध' कोपो निर्मूल समूल यथा स्यात् तथा उन्मूल्यता उच्छिद्यता स क य क्रोध विकारकरणे चित्तादिविकारविधाने मधुनो मद्यस्य मित्र सुहृत्। पुनर्य क्रोध सत्राससपादने भयजनने सर्पस्य प्रतिबिम्ब सर्पसदृश। पुनर्य क्रोध अङ्गदहने शरीरप्रज्वालने सप्तार्चिषोऽग्ने

सोदरोऽग्नेर्भ्राता । पुन य क्रोध चैतनस्य ज्ञानस्य निपूदने विना-सहमोगीशने विपतरो विषवृक्षस्य चिरमतिशयेन सब्रह्मचारी सहपाठी ॥ ४५ ॥

अर्थ—जो क्रोध चित्त को विकृत करने में मद्य का मित्र है अर्थात् शराब जैसा विकारी है [क्रोध के कारण विवेक नष्ट हो जाता है] भय के उत्पन्न करने में सर्प तुल्य है, शरीर को जलाने में अग्नि के समान है अर्थात् क्रोध के आवेश में आकर प्राणी अग्नि समान जाज्वल्यमान होने लगता है, चेतन (आत्मा) के जीवन को नष्ट करने में विषवृक्ष का चिरकाल साथी है अर्थात् विषवृक्ष के समान है । आत्मा का हित चाहने वाले चतुर पुरुषों द्वारा वह क्रोध जड़से उखाड़ दिया जाना चाहिये ।

भावार्थ—आत्मकल्याण के इच्छुक पुरुषों को चाहिये कि ऐसा क्रोध कभी न करें जिससे हेयोपादेय रहित बुद्धि हो जाय अत क्रोध का सर्वथा त्याग करना ही श्रेयस्कर है ॥ ४५ ॥

हरिणीछन्द

फलति कलितश्रेय.श्रेणीप्रसूनपरम्परः ।
प्रशमपयसा सिक्तो मुक्तिं तपश्चरणद्रुमः ॥
यदि पुनरसौ प्रत्यासत्तिं प्रकोपहविर्भुजो ।
भवति लभते भस्मीभावं तदा निफलोदयः ॥४६॥

व्याख्या—तपश्चारित्ररूपएव द्रुमो वृक्षः मुक्तिं मोक्षं फलति निष्पादयति । कथंभूत कलितश्रेय श्रेणीप्रसूनपरम्पर कलिता

उत्पादिता श्रेयसा पुण्याना कल्याणाना वा श्रेणि' राजिरेव प्रसूनाना पुष्पाणा परम्परा पङ्क्तिर्येन स । पुन कथभूत प्रशम एव उपशम एव पयो जल तेन सिक्त सेक प्रापित । यदि पुन पर तु असौ तपश्चरणद्रु म प्रकोपहविभु ज क्रोधवह्नेः प्रत्यासत्ति सामीप्य भजति आश्रयति तदा भस्मीभाव भस्मरूपता लभते प्राप्नोति। कथभूत विफलोदय निगत फलस्योदयो यस्य फलोदयरहित ॥ ४६ ॥

अथ—शान्त परिणाम रूपी जल से सींचा हुआ तपश्चरणरूपी वृक्ष अनेक पुण्य समूह रूप पुष्पों की पंक्तियों से सुशोभित होता हुआ मोक्ष रूपी फल को फलता है (मोक्षफल को देता है) यदि वह तप रूपी वृक्ष क्रोध रूपी अग्नि की निकटता को प्राप्त हो तो फिर विना फल दिये ही दग्ध हो जाता है।

भावार्थ—मुक्तिरूपी फल को देनेवाला तप रूपी वृक्ष है। अगर क्रोध-अग्नि का सेवन हो जाय तो वह तपवृक्ष भस्म हो जाय अत क्रोध का त्याग कर देना ही कल्याणकारी है ॥ ४६ ॥

पुन क्रोधदोषानाह—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

सताप तनुते भिनत्ति विनय सौहार्दमुत्सादयत्युद्वेग जनयत्यवद्यवचन सूते विधत्ते कलिं ॥
कीर्तिं कृन्तति दुर्मतिं वितरति, व्याहति पुण्योदय ।
दत्तेय कुगतिं स हातुमुचितो, रोष सदोष' सतां ॥४७॥

व्याख्या—स रोप क्रोध सता सत्पुरुषाणा हातु त्यक्तु

वचितो योग्योऽस्ति। कथभूत रोप सदोप अनेकदोषै सहित। स क यो रोप सताप चित्तोद्वेग तनुते विस्तारयति। पुन र्यो रोपो विनय विनयगुण भिनत्ति विदारयति विनाशयति। पुनर्यो रोप सौहार्दं मित्रभाव उत्सादयति विनाशयति। पुनर्य उद्वेग वचचाटन जनयति। पुनर्य अवद्यवचन असत्यवचन सूते उत्पादयति। पुनर्य कलि कलह विधत्ते करोति। पुनर्योरोप कीर्ति यश कीर्ति कृन्तति छिनत्ति। पुनर्योदुर्मतिं दुष्बुद्धि वितरति-दत्ते। पुनर्य पुण्योदय धर्मस्य उदय व्याहति विनाशयति। पुनर्य कुगति नरकतिर्यग्गति दत्ते ददाति। स रोप सता हातुमुचित ॥ ४७ ॥

अर्थ—जो क्रोध सन्ताप को बढाता है विनय को नष्ट करता है, मित्रता को उखाड देता है अर्थात् जिससे मित्रता नष्ट हो जाती है, उद्वेग को उत्पन्न करता है, निन्द्य वचन को उत्पन्न करता है, कलह करता है, कीर्ति को काट डालता है अर्थात नष्ट कर देता है, कुबुद्धि पैदा करता है, पुण्य के उदय को नष्ट कर देता है कुगति को देता है अर्थात् मर कर प्राणी कुगति में जाता है ऐसा अनेक दोषोंको उत्पन्न करने वाला यह क्रोध सज्जन पुरुषों द्वारा त्याग करने योग्य है ॥४७॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

यो धर्म दहति द्रुम दव इवोन्मथ्नाति नीतिं लता।
दतीवेन्दुकला विधुतुद इव क्लिश्नाति कीर्ति नृणा॥
स्वार्थं वायुरिवाम्बुदं विघटयत्युल्लासयत्यापदं।
तृष्णा धर्म इवोचित कृतकृपालोप, स कोप कथ ॥४८॥

व्याख्या—यो धर्म दहति स कोप क्रोध कथ केनोपायेनोचित योग्य स्यात् अपि तु न कथमप्युचित । स क इव कोपो धर्मं श्रेयो दहति भस्मीकरोति । क इमिव दवो दावानलो द्रुममिव यथा दावानलो द्रुमवृक्ष दहति । पुनर्यो नीतिं न्याय उन्मथ्नाति उन्मूलयति क कामिव दन्ती हस्ती लतामिव यथा हस्ती लतामुन्मूलयति । नृणा मनुष्याणां कीर्ति क्लिश्नाति पीडयति गमयति । क कामिव विधुन्तुदो राहुरिंदुकला चन्द्रलेखामिव । पुनर्यो रोष स्वार्थं विघटयति । स्फेटयति क मिव वायुरम्बुदमिव यथा वायुर्मेघं विघटयति पुनर्यं आपद कष्ट उल्लासयति । विस्तारयति क कामिव घर्मं ग्रीष्म तृष्णामिव । यथा तपात्तृष्णा तृषा वर्द्धयति । पुन कथभूत कोप कृत्तकृपालोप कृत विहित कृपाया दयाया लोपो विनाशो येन स ॥४८॥

इति क्रोधप्रक्रम

अर्थ—जो क्रोध वृक्ष को दावानल अग्नि के समान मनुष्यों के धर्म को जला देता है, लता को हाथी के समान नीति को उखाड़ देता है, चन्द्रमा की कला को राहु के समान कीर्ति को मलिन कर देता है मेघ को पवन के समान स्वार्थ को नष्ट कर देता है, प्यास को धूप के समान आपत्तियों को बढ़ाता है और जिस क्रोध के कारण दयाभाव का सर्वथा लोप हो जाता है। ऐसा वह क्रोध करना किस प्रकार उचित है अर्थात् नहीं करना चाहिये। क्योंकि क्रोध महान अनर्थ करता है। इसका त्याग करना ही उचित है॥ ४८ ॥

अथ मानस्य दोषानाह—

मन्दाक्रान्ता छन्द

यस्मादाविर्भवति विततिर्दुस्तरापन्नदीना,
यस्मिन् शिष्टाभिरुचितगुणग्रामनामापि नास्ति ।
यश्च व्याप्तं वहति वधधी धूम्यया क्रोधदाव,
तं मानाद्रिं परिहर दुरारोहमौचित्यवृत्तेः ॥४९॥

व्याख्या—भो भव्यप्राणिन् । औचित्यवृत्ते उचिताचार करणात् तद्योग्यविनयविधानात त मानाद्रि मान अहकार एव अद्रिस्त अहकारपर्वत परिहर त्यज मुञ्च। त क यस्मात् मानाद्रे दुस्तरा तरीतु अशक्या आपन्नदीना कष्टारूपनदीना वितति श्रेणि-राविर्भवति प्रकटीभवति। अन्यस्मादप्यद्रेर्नदीना वितति प्रादु-र्भवति । यथा यस्मिन् मानाद्रौ शिष्टाभि रुचितगुणग्रामनामापि नास्ति । शिष्टाना उत्तमाना अभिरुचिता प्रीतिदायिनो ये गुणा ज्ञानादय औदार्यादयो वा तेषा ग्राम समूहस्तस्य नामापि नास्ति गुणाना लव लेशोपि न। पुनर्यो मानाद्रि क्रोधदावानल वहति धत्ते। कथभूत क्रोधदाव वधधी धूम्यया व्याप्त । हिंसाबुद्धिधूमसमूहेनालीढं । पुन कथंभूत दुरारोह आरोढुमशक्य अथवा औचित्यवृत्ते योग्यताया दुरारोह ॥४६॥

अर्थ—जिस (मानकषाय) से अहकार रूपी पर्वत से कठिनता से पार करने योग्य आपत्तिरूपी नदियों का समूह निकलता है अर्थात् मान के कारण ही अनेक आपत्तियां सिर पर आती हैं, जिस मानरूपी पर्वत में सज्जन पुरुषों द्वारा ग्रहण करने योग्य गुण रूपी

ग्राम का नाम भी नहीं है अर्थात् अहंकार के कारण मनुष्य के सब गुण नष्ट हो जाते हैं, और जो मान हिंसा बुद्धिरूपी धूम से चारों तरफ फैल कर क्रोधरूपी अग्नि को धारण करता है। (मान के कारण जीवों की हिंसक बुद्धि तथा क्रोधाग्नि जाज्वल्यमान हो जाती है) ऐसे उस कठिनता से पार करने योग्य मानरूपी पर्वत को उचित कार्यों से, सदाचरण से त्याग देना चाहिये ॥ ४६ ॥

भूयोमानदोषानाह —

शिखरिणी छन्द

शमालानं भञ्जन्विमलमतिनाडीं विघटयन्,
किरन्दुर्वाक्पांशूत्करमगणयन्नागमसृणिम्।
भ्रमन्नुर्व्यां स्वैरं विनयनयवीथीं विदलयन्।
जनः किं नानर्थं जनयति मदांधो द्विप इव ॥५०॥

व्याख्या—मदांधो जनः किमनर्थं न जनयति मदेन अहंकारेण अन्धो गतेक्षणो जनः कं कं अनर्थं न जनयति नोत्पादयति अपि तु सर्वं अनर्थं जनयति कः इव द्विप इव मत्तगज इव यथा मदान्धो द्विपो अनयं उपद्रवं जनयति। किं कुर्वन् शमालानं भजन् शम एव उपशम एव आलानं गजबन्धनस्तम्भं भजन् उन्मूलयन्। पुनः किं कुर्वन् विमलमतिनाडीं निर्मलबुद्धि एव नाडी बन्धनरज्जुता विघटयन् त्रोटयन्। पुनः किं कुर्वन् दुर्वाक्पांशूत्करं दुर्वागेव दुर्वचनमेव पांशु धूलिस्तस्याः उत्करं समूहं किरन् विक्षपन्। पुनः आगम एव सिद्धांत एव सृणिः अंकुशस्तं अवगणयन् अविचारयन्। पुनर्विनयनयवीथीं

विनय एव नयवीथी न्यायश्रेणिरता विदलयन् विध्वसयन् अन्योपि मदान्धो हस्ती एतानि वस्तूनि करोति ॥ ५० ॥

अर्थ—मदान्ध पुरुप की चेष्टा का वर्णन करते हुये आचार्य कहते हैं कि-मान कपाय कैसी है—समता भाव रूपी बन्धन के खम्भे को उखाड़ता हुआ, निर्मल बुद्धिरूपी साकल को तोड़ता हुआ, दुर्वचन रूपी धूल के समूह को बखेरता हुआ, आगमरूपी अकुश को नहीं गिनता हुआ पृथ्वीतल में इच्छानुसार भ्रमण करता हुआ, विनय रूपी बाग की गली को दलमलीन करता (कुचलता) हुआ अहकार से अन्धा पुरुप मदोन्मत्त हाथी के समान क्या क्या अनर्थ नहीं करता ? किन्तु सभी प्रकार के अनर्थ कर डालता है अत मान कपाय को त्याग कर मार्दव धर्म धारण करना योग्य है ॥ ५० ॥

पुनराह—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

औचित्याचरण विलु पति पयोवाह नभस्वानिव ।
प्रध्वस विनय नयत्यहिरिव प्राणस्पृशां जीवितम् ॥
कीर्तिं कैरविणीं मतङ्गज इव प्रोन्मूलयत्यंजसा ।
मानो नीच इवोपकारनिकर हन्ति त्रिवर्गं नृणा ॥५१॥

व्याख्या—मानोऽहकारो नृणा पु सा त्रिवर्गं धर्मार्थकामरूप हति नाशयति क कमिव नीचोमनुष्य उपकारनिकरमिव यथा नीच उपकारसमूह हति तथा । पुन मान औचित्याचरण योग्याचार विलुम्पति स्फेटयति क कमिव नभस्वान् वायु पयोवाहमिव । पुन-

मान प्राणभृशा प्राणिना विनय अभ्युत्थानादिक प्रध्वस क्षयं नयति क कमिव अहि सर्पो जीवितमिव यथा सर्पो जीवित क्षय नयति। पुनरजसा वेगेन कीर्ति प्रोन्मूलयति क कामिव मत्तगजो हस्ती कैरविणीं कमलिनीं प्रोन्मूलयति तद्वत् ॥ ५१ ॥

अर्थ—तीव्र पवन जैसे बादलों को नष्ट कर देता है अर्थात् वायु के वेग से जिस प्रकार सब बादल बिघट जाते हैं उसी प्रकार मान कषाय के कारण मनुष्य का उचित आचार विचार नष्ट हो जाता है, जीवों के जीवन को जैसे साप नष्ट कर देता है वैसे ही मान विनयगुण को नष्ट कर देता है (अहकारी के विनय भाव कदापि नहीं होता) कमलिनी को जैसे हाथी उखाड डालता है वैसे कीर्ति को शीघ्र ही नष्ट कर देता है—मान के कारण कीर्ति नष्ट हो जाती है और उपकारी के उपकार को जैसे नीच पुरुष नष्ट कर देता है। अर्थात् किये हुये उपकार को भूलकर नीच मनुष्य उपकार करने वाले का अहित कर डालता है उसी प्रकार मान कषाय मनुष्यों के धर्म, अर्थ, काम इन तीनों पदार्थों (पुरुषार्थों) का नाश कर देता है ॥ ५१ ॥

भूयश्चाह—

वसन्ततिलकाछन्द

मुष्णाति यः कृतसमस्तसमीहितार्थं ।
सजीवन विनयजीवितमङ्गभाजा ॥
जात्यादिमानविषज विषम विकार ।
त मार्दवामृतरसेन नयस्व शातिम् ॥५२॥

व्याख्या—यो मानोऽङ्गभाजा प्राणिना विनयजीवित विनय-गुणरूपजीवित मुष्णाति उच्छिनत्ति । कथभूत विनयजीवित कृतसमस्त-समीहितार्थं सजीवन कृत समस्ताना समीहिताना वाञ्छितार्थाना सजीवन येन तत् त जात्यादिमानविपज जातिलाभकुलैश्वर्यबलरूप-तपश्रुताना मानोऽहकार एव विप तस्मात्समुद्भव उत्पन्न विषम घोर विकार मार्दवामृतरसेन मृदुतासुधारसेन शाति उपशम नयस्व प्रापय ॥ ५२ ॥ मानत्यागे बाहुबलिदृष्टान्त —

इति मानप्रक्रम ।

अर्थ—जो मान प्राणियों के सम्पूर्ण वाञ्छितार्थरूप तथा सजीवन औषधि स्वरूप विनय को चुरा लेता है अर्थात् मान (अहकार) के सद्भाव में पूज्य पुरुषों के प्रति आदर सत्कार की भावना रूप विनय गुण सर्वथा नष्ट हो जाता है अत उस जात्यादि आठ प्रकार (जातिमद, कुलमद, बलमद, ऋद्धिमद, तपमद, शरीर-मद ज्ञानमद, ऐश्वर्यमद) के मद रूप विप से उत्पन्न हुये विषम विकार अर्थात् रोग को मार्दव धर्म (कोमल परिणाम) रूप अमृत पान से शान्त करो । मान रूपी रोग को मार्दवामृत से शान्त करना चाहिये ॥ ५२ ॥

अथ मायात्यागमाह—

मालिनीछन्द

कुशलजननवन्ध्या सत्यसूर्यास्तसन्ध्यां ।
कुगतियुवतिमालां मोहमातगशालाम् ॥

शमकमलहिमानीं दुर्यशोराजधानीं ।
व्यसनशतसहायां दूरतो मुञ्च मायाम् ॥५३॥

व्याख्या—भो भव्यजन ! माया कपट दूरतो मुञ्च त्यज। कथभूता माया कुशलस्य क्षेमस्य जनने उत्पादने वन्ध्या वन्ध्यास्त्रीरूपा पुन सत्यमेव सूर्यस्तस्यास्तमनाय सन्ध्या ता। पुन कथभूता कुगतिरेव युवतिस्तस्या वरणमाला ता। पुन मोह एव मातगस्तस्यशाला बधनस्थानम् ता। पुन किंभूता शम एव उपशम एव कमलानि तेषा हिमानी हिमसहति ता। पुन किंभूता दुर्यश अपकीर्ति तस्य राजधानी निवासनगरी ता। पुन किंभूता व्यसनाना कष्टाना शतानि सहाया यस्या सा ता इदृशीं माया दूरतो मुञ्च त्यज ॥ ५३ ॥

अर्थ—इस पद्य में मायाचारी के त्याग का उपदेश है वह माया कैसी है—कल्याण के उत्पन्न करने में वन्ध्या स्त्री के समान है (मायावी व्यक्ति के कभी भी कल्याण की भावना उत्पन्न नहीं हो सकती), सत्य वचन रूपी सूर्य के अस्त होने के लिये सन्ध्या के समान है, मोह रूपी हाथी के लिये शाला के समान है, समता भाव रूपी कमलों को नाश करने के लिये तुषार [पाला] समान है, अपकीर्तिकी राजधानी है, सैंकड़ों व्यसनों को उत्पन्न करने में सहायक है ऐसी माया कषाय को दूर ही से त्याग देना चाहिये ॥ ५३ ॥



पुनराह—

उपेन्द्रवज्राछन्द

निधाय माया विविधैरुपायैः ।
परस्य ये वञ्चनमाचरन्ति ॥
ते वञ्चयन्ति त्रिदिवापवर्ग—
सुखान्महामोहसखा स्वमेव ॥५४॥

व्याख्या—ये जना विविधैर्नानाप्रकारैरुपायै माया कपट विधाय कृत्वा परस्य अन्यजनस्य वञ्चन आचरन्ति कुर्वन्ति ते जना महामोहसखा महदज्ञानयुक्ता सन्त त्रिदिवापवर्गसुखान् देवलोक-मोक्षसुखान् स्वमेवात्मानमेव वञ्चयन्ति विप्रतारयन्ति त्याजयन्ति ॥ ५४ ॥

अर्थ—जो लोग अनेक प्रकार से मायाचारी (जालसाजी) करके दूसरे लोगों को ठगते हैं, अन्यथा प्रतिपादन करके मिथ्या-मार्ग में लगाते हैं वे महामोह के मित्र (मोह कर्म के वश होकर) स्वर्ग और मोक्ष के सुख से अपने आपको वंचित करते हैं ।

भावार्थ—निष्कपट परिणाम सरीखी अन्य सरलता ससार में प्रशसा के योग्य नहीं है और मायाचारी जैसी अन्य असत्यता निन्दा के योग्य नहीं है । कपटी पुरुष के व्रतों का पालन करना, कठिन तपश्चर्या आदि करना सर्व निष्फल है । जो मायावी दूसरों को अपने वाग्जाल में फँसा कर हर्ष मानते हैं वे स्वय मायाचारी परिणामों से निकृष्ट बन्ध कर अपने आत्माको नर्क गर्त में पतन कराते हैं। इसलिए मायाचार रूप परिणामों के त्यागे बिना इस लोक में,

परलोक में जीवोंको सुख शांति प्राप्त नहीं हो सकती ॥ ५४ ॥

पुनर्मायादोषमाह—

वंशस्थछन्द

मायामविश्वासविलासमन्दिरं ।
दुराशयो यः कुरुते धनाशया ॥
सोऽनर्थसार्थं न पतन्तमीक्षते ।
यथा बिडालो लगुडं पयः पिबन् ॥५५॥

व्याख्या—यो दुराशयो दुष्टचित्तो जनो धनाशया द्रव्यस्य वाञ्छया लोभेन माया कपटं कुरुते विदधाति स जन आत्मनोऽनर्थ सार्थं कष्टसमूहं पतन्तं आगच्छन्तं नेक्षते नालोकते। कथं यथा बिडालो मार्जारः पयो दुग्धं पिबन् सन् लकुटं दण्डप्रहारं नेक्षते नालोकते। कथंभूता माया अविश्वासस्य अप्रतीतेः विलासर्मा दूर क्रीडागृहं मंदिरं शब्दस्य अनपुंलिंगत्वात् ॥ ५५ ॥

अर्थ—जो दुष्ट अभिप्राय [परिणाम] वाला पुरुष धन की इच्छा से अविश्वास के क्रीड़ा स्थान रूपी मायाचारी को करता है वह अपने ऊपर आई विपत्तियों को नहीं देखता है। जिस प्रकार दूध को पीता हुआ बिलाव ऊपर से अपने ऊपर पड़ती हुई लकड़ी को नहीं देखता है। खेद है कि मायाचारी दूसरों का अनिष्ट सोचता है परन्तु उस मायाचारी से स्वयं अपना अहित-अनिष्ट हो जाता है इससे वह जरा भी नहीं डरता है ॥५५॥

पुनराह—

वसन्ततिलकाछन्द

मुग्धप्रतारणपरायणमुज्जिहीते ।
यत्पाटवं कपटलम्पटचित्तवृत्तेः ॥
जीर्यत्युपप्लवमवश्यमिहाप्यकृत्वा ।
नापथ्यभोजनमिवामयमायतौ तद् ॥५६॥

व्याख्या—कपटे मायाया लम्पटा वाञ्छायुक्ता चित्तवृत्तिमनोव्यापारो यस्य स तस्य पुरुषस्य यत्पाटवं चातुर्यं उज्जिहीते उल्लसति तत्पाटवं अवश्य निश्चयेन आयतौ आगामिकाले उपप्लवं उपद्रवं अनर्थं अविधाय न जीर्यति न परिणामं याति। किंतु तस्य विपाको भवत्येव किमिव अपथ्यभोजनं आमयमिव यथा अपथ्यं भोजनं क्षेमन आमयं रोगं अकृत्वा आयतौ न जीर्यति न याति। कथंभूतं पाटवं मुग्धानां मूर्खाणां प्रतारणे वञ्चने परायणं तत्परं ॥ ५६ ॥ अत्र मल्लिनाथजीव महाबल दृष्टांत आपादभूत दृष्टान्तश्च।

इति मायाप्रक्रम

अर्थ—सदा कपट करने में तत्पर चित्त रखने वाले पुरुष की भोले पुरुषों को ठगने में जो चतुरता उल्लासमान होती है वह कपट चतुरता अवश्य ही फल देने के काल में जैसे अपथ्य भोजन रोग उत्पन्न किये बिना नहीं रहता–उसी तरह कपट प्रवृत्ति भी लोक में बिना कुछ उपद्रव कष्ट दिए बिना नहीं रहती है। तात्पर्य यह है कि जैसे अपथ्य भोजन करने से रोग अवश्य ही उत्पन्न होता है उसी प्रकार कपटी पुरुष दूसरों को ठग कर भले ही कुछ काल तक

आनन्द मनावे, हर्षित हो पर अन्तमें मायाचारी का फल इस लोक में तो उन्हें भोगना ही पड़ता है और परलोक में भी मर कर दुर्गति के दुःख उन्हें भोगने पड़ते हैं। यह एक अटल सिद्धान्त है कि "यत्करोति तदवश्यमेव भुंक्ते" जो जीव जैसा कर्मोपार्जन करता है उसका अवश्य ही उसे फल भोगना पड़ता है॥ ४६ ॥

अथ लोभत्यागोपदेशमाह—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

यद्दुर्गामटवीमटन्ति विकटं क्रामन्ति देशान्तरं ।
गाहन्ते गहनं समुद्रमतनुक्लेशां कृषिं कुर्वते ॥
सेवन्ते कृपणं पतिं गजघटासंघट्टदुःसंचरं ।
सर्पन्ति प्रधनं धनान्धितधियस्तल्लोभविस्फूर्जितं ॥५७॥

व्याख्या—धनेन वित्तेन अधिता अधप्राया कृता धीर्बुद्धिर्येषां ते ईदृशाः पुरुषा यत् दुर्गां विषमां अटवीमरण्यं अटति भ्राम्यन्ति। पुनर्यत् विकटं विस्तीर्णं देशान्तरं क्रामंति भ्रमन्ति। पुनर्यत् गहनं दुरवगाहं समुद्रं गाहन्ते उल्लंघयंति। पुनर्यत् अतनुक्लेशां बहुकष्ट साध्यां कृषिकर्षणं क्षेत्रादि कुर्वते विदधते। पुनर्यत् कृपणं अदातारं पतिं स्वामिनं सेवते। पुनर्यत् राजघटानां हस्तिसमूहानां संघट्टनेन दुःसंचरं गंतुमशक्यं प्रधनं युद्धं प्रविसर्पति गच्छति तत् सर्व लोभस्य विस्फूर्जितं चेष्टितं जानीहि। लोभवशादेतानि वस्तूनि कुर्वन्ति अतः कारणात् लोभस्त्याज्य एव ॥ ५७ ॥

अर्थ—धनके कारण से अन्ध हुई बुद्धि होने के कारण से ही पुरुष गहन अटवी में भ्रमण करते हैं। विदेश में गमन करते हैं, गहरे समुद्र का अवगाहन करते हैं, अधिक क्लेश वाली खेती करते हैं, कजूस स्वामी की सेवा करते हैं और अनेक हाथियों के सघट्ट होने से चलना है कठिन जहा पर ऐसे युद्ध में जाते हैं यह लोभ का ही तो माहात्म्य है। लोभ के वशीभूत होकर मनुष्य क्या २ पाप नहीं करता ? किन्तु सभी पाप कर बैठता है क्योंकि लाभ ही समस्त पापों का राजा है अत लोभ का त्याग करना ही उचित है ॥ ५७ ॥

पुनराह—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

मूल मोहविपद्रुमस्य सुकृताम्भोराशिकुम्भोद्भव. ।
क्रोधाग्नेररणि' प्रतापतरणिप्रच्छादने तोयदः ॥
क्रीडासद्मकलेर्विवेकशशिन' स्वर्भानुरापन्नदी–
सिंधु' कीर्तिलताकलापकलभो लोभः पराभूयता ॥५८॥

व्याख्या—भो भव्या ! लोभ पराभूयता निराक्रियता त्यज्यतो मोह एव अज्ञानमेव विपद्रुमो विषतरुस्तस्य मूल जटारूप मूल शन्दस्याऽजहल्लिंगत्वं। पुन कथमूतो लोभ सुकृतमेव पुण्यमेवाम्भोराशि समुद्रस्तस्य शोषणे कुम्भोद्भवोऽगस्तिरिव। पुन क्रोधाग्ने अरणि' क्रोध एव अग्निस्तस्य अरणी काष्ट उत्पत्तिस्थान। पुन प्रताप एव तरणि' सूर्य तस्याच्छादने तोयदो मेघोभ्र। पुन कले कलहस्य

क्रीडासद्म लीलागृह। पुनर्विवेक एव पुण्यापुण्यविचार एव शशी चन्द्रस्तस्य स्वर्भानु राहु । पुन आप नदीसिंधु आपद कष्टान्येव नद्यस्तासा सिंधु समुद्रस्तासा स्थानरूपत्वात्। पुन किं कीर्तिरेव लता वल्ली तस्या कलाप समूहस्तस्य विनाशे कलभो हस्ति शाव ईदृशो लोभो जीयता ॥ ५८ ॥

अर्थ—कैसा है लोभ—मोहरूप विषवृक्ष का मूल है पुण्यरूपी समुद्र को शोषण करने के लिये अगस्त्य ऋषि समान है [ऐसी एक किंवदन्ती है कि अगुष्ठ प्रमाण अगस्त्य ऋषि ने सारा सागर का जल पी लिया था] अर्थात् अति लोभ के कारण पाप बन्ध होने से पुण्य का क्षय हो जाता है पुण्य का अनुभाग सर्वथा हीन हो जाता है, क्रोध रूपी अग्नि को बढानेके लिये अरणियकी लकड़ी है, प्रताप रूपी सूर्य को ढकने के लिये मेघों क समान है, कलह के क्रीडा करने का स्थान है विवेक रूपी चन्द्रमा क लिये राहु समान है, अनेक आपत्ति रूपी नदियों का समुद्र है, तथा कीर्ति रूपी लता समूह को उखाड़ने के लिए हाथी के बच्चे के समान है अर्थात् मनुष्य की कीर्ति पर कालिमा लग जाती है ऐसा अनेक अनर्थों का मूलभूत एक लोभ ही है अत उसका तिरस्कार करना चाहिए अर्थात उस लोभ का त्याग कर देना चाहिए ॥ ५८ ॥

पुनराह—

वसन्ततिलका छन्द

नि शेषधर्मवनदाहविजृम्भमाणे ।
दु खौघभस्मनि विसर्पदकीर्तिधूमे ॥

बाढ धनेन्धनसमागमदीप्यमाने ।
लोभानले शलभतां लभते गुणौघः ॥५९॥

व्याख्या—लोभ एवानलोऽग्नि तस्मिन् लोभानले गुणौघो ज्ञानादिगुणाना औघ समूह शलभता पतगत्व लभते पतङ्ग-वज्ज्वलति। कथभूते लोभानले नि शेष समस्त यद् धर्म एव वन तस्य दाहेन विजृम्भमाण विस्तार प्राप्नुवत् तस्मिन्। पुन कथभूते दु खाना ओघ समूह एव भस्म रक्षा यत्र स तस्मिन्। पुन कथभूते विसर्पत् प्रसरदपकीर्ति एव धूमो यस्मात् स तस्मिन्। पुन कथभूते बाढ अतिशयेन घनान्येव द्रव्याण्येंधनानि एधासि तेषा समागमेन आगमेन दीप्यमानोऽत्यन्त प्रज्वलत् वृद्धिंप्राप्नुवत् तस्मिन्। सर्वे-गुणा पतगवत् भवति सतोषेण लोभो निवार्य स्यात् ॥ ५६ ॥

अर्थ—समस्त धर्म रूपी वन को जलाने वाली अग्नि की वृद्धि हो रही है जिसमें, दु खों का समूह ही भस्म है जिसमें, अप-कीर्ति रूपी धु आ फैल रहा है जिसमें, इच्छित धनरूपी ईधन के मिलने से जाज्वल्यता हो रही है जिसमें ऐसी लोभरूपी अग्नि में गुणों का समूह पतगों के समान जलकर भस्म हो जाता है अर्थात् लोभ क कारण सब गुण नष्ट हो जाते हैं। साराश—यह है कि कोई मुनि या श्रावक धर्म पालन करे और अनर्थकारी लोभ के फदेमें पड़ जाय तो गुण नष्ट हो जानेसे ससार में अपकीर्ति हो जाती है अत लोभ का त्याग करना ही श्रेयस्कर है ॥ ५६ ॥

अथ सन्तोषगुणमाह

शार्दूलविक्रीडितछन्द

जातं कल्पतरु पुरं सुरगवी तेषां प्रविष्टागृहं ।
चिंतारत्नमुपस्थित करतले प्राप्तो निधि सन्निधि ॥
विश्व वश्यमवश्यमेव सुलभा स्वर्गापवर्गश्रियो ।
ये संतोषमशेषदोषदहनध्वसाम्बुद बिभ्रते ॥६०॥

व्याख्या—ये जना सतोष तृष्णानिरोध बिभ्रते धरति तेषा पुरोऽग्रे कल्पतरु कल्पवृक्षो जात प्रत्यक्षोऽभूत् । पुनस्तेषा गृह सुरगवी कामधेनु प्रविष्टा आगता । पुनस्तेषा करतले चिन्तामणिरत्न उपस्थित आगत । पुनस्तेषा निधान द्रव्यस्य निधि सन्निधि समीप प्राप्त । पुनर्विश्व जगत् अवश्य निश्चित तेषा वश्य जात । पुनस्तेषा स्वर्गापवर्गश्रिय देवलोकमोक्षसपद सुलभा सुप्रापा स्यु । कथमूत सतोषं अशेषदोषदहनध्वसाम्बुद अशेषाश्च ते दोषाश्च अशेषदोषा तेषा दहन तस्य दहनस्य ध्वस अशेषदोषध्वसनाय अम्बुद मेघ त। अत सतोष एव कर्तव्य अत्र सुभौमचक्रवर्तिदृष्टान्त ॥ ६० ॥

इति लोभप्रकम

अर्थ—जो पुरुष सम्पूर्ण दोष रूपी अग्नि को नष्ट करने के लिए मेघों के समान सन्तोष को धारण करते हैं उनके आगे कल्प वृक्ष उत्पन्न हो जाता है कामधेनु उनके घर में प्रवेश करती है, चिन्तामणि रत्न उनके हस्ततल में उपस्थित हो जाता है, निधि उनके निकट आ जाती है स्वर्ग मुक्ति की लक्ष्मी सुलभता से

प्त होती है, और सारा ससार अवश्य ही उनके वश हो जाता है।

भावार्थ—जो पुरुष सन्तोष धारण कर धार्मिक जीवन व्यतीत करते हैं उनके पुण्य उदय से उन्हें इस लोक, परलोक में सब सुख के साधन मिलते हैं। कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिन्तामणिरत्न, नव निधियाँ आदि सभी पदार्थोंका सहज ही समागम हो जाता है और तो क्या? कर्म काट कर अनन्त अविनाशी सिद्ध पद पाते हैं।

अथ सौजन्यविधानोपदेशमाह—

शिखरिणी छन्द

वर क्षिप्तः पाणिः कुपितफणिनो वक्त्रकुहरे।
वर झंपापातो ज्वलदनलकुंडे विरचितः॥
वर प्रासप्रान्तः सपदि जठरान्तर्विनिहितो।
न जन्य दौर्जन्यं तदपि विपदा सद्म विदुषा॥६१॥

व्याख्या—कुपितस्य फणिन क्रुधस्य सर्पस्य वक्त्रकुहरे मुखविवरे पाणिर्हस्त क्षिप्तो नि क्षिप्त सन् वर श्रेयान्। पुनर्ज्वलदनलकुंडे प्रज्वलत अग्निकुंडे झंपापातो विरचित कृतो वर श्रेष्ठ। पुन प्रासस्य कुन्तस्य प्रान्तोग्र जठरान्त उदरमध्ये विनिहित क्षिप्तो वर श्रेष्ठ। तदपि विदुषा पण्डितेन दौर्जन्य पैशुन्य न जन्य न कर्तव्यमेव। किंभूत दौर्जन्य विपदा आपदा कष्टाना सद्म गृह स्थानमित्यर्थ। अत कारणात् सौजन्यमेव विधेय॥ ६१॥

अर्थ—कोप को प्राप्त हुए सर्प के मुख रूप छिद्र में हाथ डालना अच्छा है, प्रज्वलित अग्नि के कुण्ड में झम्पापात लेना कूद पड़ना श्रेष्ठ है, शीघ्र ही विष खा लेना भी अच्छा है परन्तु विद्वानों को विपत्तियों का घर दुर्जनता का करना अच्छा नहीं है।

भावार्थ—तत्काल मर जाना तो श्रेष्ठ है परन्तु दुर्जनता का व्यवहार करना या दुर्जनों की सगति करना उत्तम नहीं है॥ ६१॥

पुनराह—

वसततिलका छन्द

सौजन्यमेव विदधाति यशश्चय च।
स्व श्रेयस च विभव च भवक्षय च॥
दौर्जन्यमावहसि यत्कुमते तदर्थम्।
धान्ये दव दिशसि तज्जलसेकसाध्ये॥६२॥

व्याख्या—सौजन्यमेव सुजनत्वेन पुसा यशश्चय कीर्तिसमूह विदधाति करोति। पुन स्वश्रेयस कल्याण विदधाति। पुनर्विभव द्रव्य विदधाति। पुनर्भवक्षय ससारक्षय मोक्ष विदधाति। ततो हे कुमते हे कुबुद्धे यत्तदर्थंयशश्चयाद्यर्थं दौर्जन्य पिशुनता आवहसि धरसि। तत् धान्ये धान्यक्षेत्रे दव दावाग्नि दिशसि ददासि। कथभूते धान्ये जलसेकसाध्ये जलस्य सेकेन सिंचनेन साध्ये निष्पादनीये तत्र दाव ददासि॥ ६२॥

अर्थ—हे अज्ञानी जीव! सज्जनता ही कीर्ति को सचित करती है, आत्मकल्याण सम्पदा को देती है तथा जन्ममरण रूप

संसार का क्षय करती है। यदि तुम कीर्ति, कल्याण, सम्पत्ति आदि के लिए दुर्जनता का व्यवहार करोगे तो समझो कि तुम जल सिंचन करने योग्य धान्य में अग्नि डालने का कार्य करते हो। इसलिए दुर्जनता का व्यवहार सर्वथा त्यागने योग्य है और सज्जनता का व्यवहार ही कल्याणकारी है।

दारिद्र्येऽपि सुजनतैव श्रेष्ठेत्याह—

पृथ्वीछन्द

वरं विभववन्ध्यता सुजनभावभाजां नृणा-
मसाधुचरितार्जिता न पुनरूर्जिताः संपदः।
कृशत्वमपि शोभते सहजमायतौ सुन्दरं।
विपाकविरसा न तु श्वयथुसम्भवा स्थूलता॥६३॥

व्याख्या—वरमिति सुजनभावभाजां सौजन्यसहितानां नृणां पुंसां विभवस्य वन्ध्यता निष्फलता। निर्द्रव्यता दारिद्र्यमेव वरं श्रेष्ठं असाधुचरितेन अर्जिताः दौर्जन्येन उपार्जिताः संपदः श्रियोऽपि वरं न श्रेष्ठा न श्लाघ्या न। कथंभूताः संपदः ऊर्जिताः बलिष्ठाः प्रचुराः तत्र दृष्टान्तमाह सहजं स्वाभाविकं कृशत्वं दौर्बल्यमपि शोभते। तु पुनः श्वयथुसंभवा शोफात् जाता स्थूलता पीनतापि न वरं न श्रेष्ठा। कथंभूतं कृशत्वं आयतौ उत्तरकाले आगामिकाले सुन्दरं शोभनं। कथंभूता स्थूलता विपाके परिणामे अन्त्ये विरसा दारुणा॥६३॥

अर्थ—सज्जन पुरुषों के धन रहितपना (निर्धनता) तो श्रेष्ठ है परन्तु दुर्जनता से कमाया हुआ अधिक धन प्राप्त करना उत्तम नहीं है। जैसे कि शरीर में सुख देने वाली स्वाभाविक कुरूपता तो अच्छी प्रतीत होती है परन्तु जिसका विपाक [फल] बुरा है ऐसी सूजन के कारण होने वाली शरीरमें स्थूलता (मोटापन) उत्तम सुखप्रद नहीं होती।

भावार्थ—सज्जनता पूर्वक जीवन बिताते हुये गरीब रहना उत्तम है परन्तु दुर्जनता [दुष्टता] से अन्याय पूर्वक धन कमाते हुये धनी रहना उत्तम नहा है। क्यों कि अन्याय का धन कभी स्थिर नहीं रहता, नष्ट हो जाता है तथा अन्यायी जीव के परिणामों में सक्लेशता सदा विद्यमान रहती है जिसके फलस्वरूप नरकादि गतियों के दुःख भोगने पड़ते हैं॥ ६३॥

सौजन्यमाजा गुणानाह—

शार्दूलविक्रीडित छन्द

न ब्रूते परदूषणं परगुणं वक्त्यल्पमप्यन्वहं ।
संतोषं वहते परर्द्धिषु पराबाधासु धत्ते शुचम् ॥
स्वश्लाघां न करोति नोज्झति नयं नौचित्यमुल्लंघय—
त्युक्तोऽप्यप्रियमक्षमां न रचयत्येतच्चरित्रं सतां ॥६४॥

व्याख्या—सतां साधूनां सज्जनानां एतच्चरित्रं चेष्टितं अस्ति। एतदिति किं सज्जन परदूषणं परदोषं न ब्रूते। पुनरल्पमपि तुच्छमपि परगुणं अन्यगुणं अन्वहं निरन्तरं वक्ति कथयति

पुरः परेषां ऋद्धिषु संपत्तिषु संतोषं अनभिलाषं अमत्सरं वहते धत्ते। पुनः पराबाधासु परपीडासु शुचं शोकं धत्ते। पुनः स्वश्लाघां आत्मप्रशंसां न करोति। पुनः नयं न्यायं नोज्झति न त्यजति। पुनरौचित्यं योग्यतां नोल्लंघयति नातिक्रामति। पुनरप्रियं विरूपं अहितं वक्तोपि भणितोपि अक्षमां क्रोधं न रचयति न करोति। सतां एतच्चरित्रं वर्तते ॥ ६४ ॥

अर्थ—सत्पुरुषों का चरित्र ऐसा होता है —कि वे दूसरों के दोषों को प्रगट नहीं करते, दूसरों के थोड़े भी गुणों की रात दिन प्रशंसा करते हैं, दूसरों के वैभव आदि को देख कर ईर्ष्यालु न होकर संतोष धारण करते हैं, दूसरों के दुखों को देख कर दुखी हो जाते हैं, अपनी प्रशंसा अपने आप नहीं करते किंतु अपनी प्रशंसा सुन कर लज्जा प्रगट करते हुये लज्जा से अवनत हो जाते हैं, संकट आने पर भी न्याय नीति का त्याग नहीं करते, योग्य आचरण या स्वकर्तव्य की उपेक्षा नहीं करते और दूसरों द्वारा कटुक वचनों का प्रयोग किये जाने पर भी क्रोधित नहीं होते क्षमा (पृथ्वी) की तरह क्षमा धारण करते हैं। ऐसा यह सज्जनों का अपूर्व ही चरित्र है।

भावार्थ—जो सज्जन पुरुष होते हैं वे दूसरों की कटु आलोचना नहीं करते, छिद्रान्वेषी नहीं होते। गुणग्राही होने के कारण वे दूसरों के गुणों पर ही दृष्टिपात करते हैं, अवगुणों का त्याग करते हैं।

अथ गुणसङ्ग वर्णयति—

शार्दूलविक्रीडित छन्द

धर्मं ध्वस्तदयो यशश्च्युतनयो वित्त प्रमत्त पुमान्।
काव्य निष्प्रतिभस्तप शमदयाशून्योऽल्पमेधा श्रुत॥
वस्त्वालोकमलोचनश्चलमना ध्यान च वाञ्छत्यसौ।
य सग गुणिना विमुच्य विमति कल्याणमाकाक्षति।६५।

व्याख्या—यो विमति निर्बुद्धि गुणिना गुणवता मनुष्याणा सग ससग विमुच्य त्यक्त्वा कल्याण श्रेय आकाक्षति असौ विमति पुमान् ध्वस्तदयो गतकृप निर्दय सन् धर्म पुण्य वाञ्छति। पुनश्च्युतनयो गतन्यायोऽन्यायभाक् सन् यश कीर्ति वाञ्छति। पुन प्रमत्त प्रमादी सन् वित्त धन वाञ्छति। पुनर्निष्प्रतिभ प्रज्ञारहित सन् काव्य कर्त्तु वाञ्छति। पुन शमेन उपशमेन दमेन च हीनो रहित पुमान् तपो वाञ्छति। पुन अल्पमेधा तुच्छबुद्धिर्बुद्धि-रहित सन् श्रुत शास्त्र पठितु वाञ्छति। पुनरलोचनो नेत्ररहित सन् वस्तूना घटपटादीना विलोकन दर्शन वाञ्छति। पुनश्चलमना चलचित्त सन् ध्यान वाञ्छति। तथा गुणवता सग विना कल्याण न॥ ६५॥

अर्थ—जो अज्ञानी मनुष्य गुणवान् पुरुषों की सगति छोड़-कर अपना कल्याण करना चाहता है वह मूर्ख दया बिना धर्म को चाहता है, नीतिमार्ग रहित होकर कीर्ति सम्पादन करना चाहता है आलसी होकर धन कमाना चाहता है प्रतिभारहित हो काव्य

रचना चाहता है समता और इन्द्रियदमन किये बिना ही तप करना चाहता है, अल्प बुद्धि होकर शास्त्र पारगामी होना चाहता है, नेत्रों के बिना पदार्थों को देखना चाहता है, और चचल चित्त होकर भी ध्यान करना चाहता है।

भावार्थ—जिस प्रकार दया विना धर्म नहीं, न्याय विना कीर्तिलाभ नहीं, परिश्रम किये विना धनोपार्जन नहीं, प्रतिभा विना काव्यरचना नहीं, शमदम बिना तप नहीं, विशिष्ट क्षयोपशम विना श्रुत ज्ञान नहीं चक्षु विना पदार्थावलोकन नहीं, स्थिर मन बिना ध्यान नहीं होता उसी प्रकार सत्संगति विना मनुष्यका कल्याण भी नहीं हो सकता।

पुनर्गुणिसङ्ग वर्णयति—

हरिणी छन्द

हरति कुमतिं भिन्ते मोह करोति विवेकिता।
वितरति रतिं सूते नीतिं तनोति गुणावलिं॥
प्रथयति यशो धत्ते धर्मं व्यपोहति दुर्गतिं।
जनयति नृणा किं नाभीष्ट गुणोत्तमसगमः॥६६॥

व्याख्या—नृणा पुंसा गुणैः उत्तमा गुणोत्तमास्तेषां सगमो नृणा किं किं अभीष्ट वाञ्छित न जनयति न करोति अपितु सर्वमभीष्ट जनयति। गुणोत्तमसगम कुमतिं कुबुद्धिं हरति दूरीकरोति। पुनर्मोह अज्ञान भिन्ते विदारयति। पुनर्विवेकिता तत्त्वातत्त्वविज्ञत्व करोति। रतिं सतोष वितरति ददाति। पुनर्नीतिं न्याय सूते

जनयति । पुनर्गुणावलिं गुणश्रेणीं तनोति । पाठान्तरे तु विनीततां तनोति । पुनर्यशः कीर्तिं प्रथयति विस्तारयति । पुनर्धर्मं धत्ते धरति । पुनर्दुर्गतिं नरकतिर्यग्गतिरूपां व्यपोहति स्फेटयति । एवं गुणोत्तमसंगमः सर्वमभीष्टं जनयति ॥ ६६ ॥

अर्थ—गुणी जनों की संगति खोटी बुद्धि को हटाती है जीवों की मोह परिणति को नष्ट करती है हेयोपादेय का ज्ञान प्रगट करती है, प्रेमभाव (वात्सल्यभावना) को बढाती है, नीति मार्ग का आश्रय बनाता है, विनयगुण की वृद्धि करती है, लोकमें यश फैलाती है धर्म सेवन की भावना को उत्पन्न करता है, नरकगति तिर्यंचगति के दुःखों को हटाती है (नाश करती है) सत्संगति मनुष्यों को कौन कौन से इच्छित पदार्थ प्रदान नहीं करती अर्थात् संसार में सर्व उत्तम गुणोंको प्राप्त कराती है ।

पुनराह—

शार्दूलविक्रीडित छन्द

लब्धुं बुद्धिकलापमापदमपाकर्तुं विहर्तुं पथि ।
प्राप्तुं कीर्तिमसाधुतां विधुनितुं धर्मं समासेवितुं ॥
रोद्धुं पापविपाकमाकलयितुं स्वर्गापवर्गश्रियं ।
चेत्त्वं चित्त समीहसे गुणवतां सङ्गं तदङ्गीकुरु ।।६७।।

व्याख्या—रे चित्त चेत् यदि त्वं बुद्धिकलापं बुद्धिसमूहं लब्धुं प्राप्तुं समीहसे वाञ्छसि तत्तदा गुणवतां गुणिनां सङ्गं संसर्गं अंगीकुरु विधेहि । पुनर्यदि पथि न्यायमार्गे विहर्तुं विचरितुं वाञ्छसि ।

पुन यदि कीर्तिं यशः प्राप्तु समीहसे वाञ्छसि। पुण्य समासेवितु कर्तुं समीहसे। पुनर्यदि विपद आपद अपाकर्तुं दूरीकर्तुं समीहसे वान्छसि। पुनरसाधुता असौजन्य विधुनितु स्फेटयितु समीहसे वाञ्छसि। पुनर्यदि धम पुण्य समासेवितु कर्तुं समीहसे वान्छसि। पुनर्यदि पापविपाक अशुभकर्मफल रोद्धु समीहसे। पुनर्यदि स्वर्गापवर्गश्रिय देवलोकमोक्षलक्ष्मीं आकलयितु अनुभवितु समीहसे। तदा गुणवता सग कुरु ॥ ६७ ॥

अर्थ—हे चित्त! यदि तू बुद्धिका भण्डार प्राप्त करने के लिये, आपत्तियों को हटाने के लिए, स मार्ग में गमन करने के लिये, कीर्ति को प्राप्त करने क लिये, धर्म को शाति पूर्वक सेवन करने के लिये, पापों के फल दुखों को हटाने के लिये स्वर्ग तथा मोक्षकी लक्ष्मी को प्राप्त करने के लिये इच्छा करता है, तो सज्जन गुणवान् पुरुषों की सगति को अवश्य ही स्वीकार कर।

भावार्थ—यदि मनुष्य इह लोक परलोक सम्बन्धी सुखों की अभिलाषा रखता है तो उसे गुणी जनों की सगति करनी चाहिये। क्योंकि सत्सगति मे सन्मार्ग में बाधा उपस्थित करने वाले दोषों का निराकरण होजाता है।

निर्गुणसगमदोषमाह—

हरिणी छन्द

हिमति महिमाम्भोजे चण्डानिलत्युदयाम्बुदे।
द्विरदति दयारामे क्षेमक्षमाभृति वज्रति ॥

समिधति कुमत्यग्नौ कन्दत्यनीतिलतासु यः ।
किमभिलषता श्रेयः श्रेयान्स निर्गुणिसंगमः ॥६८॥

व्याख्या—स निर्गुणसंगमः किमपि श्रेयः कल्याणमभिलषता वाञ्छता पुरुषेण न श्रेयः न आश्रयणीयः सः कः यो महिमा एव महत्त्वमेवाम्भोजं कमलं तस्मिन् हिमति हिम इवाचरति तद्विनाशकत्वात् । पुनर्यो निर्गुणसंगः उदयः एव घनघान्यप्रतापवृद्धिरेवाम्भोदो मेघस्तत्र चण्डानिलति प्रचण्डवायुरिवाचरति । पुनर्दया एव अथवा दम एव आरामो वनं तत्र द्विरदति द्विरदवद् गजवदाचरति । तदुन्मूलकत्वात् । पुनर्यः क्षेममेवकुशलमेव क्षमाभृत् गिरिस्तत्र वज्रति वज्रवदाचरति तच्छेदकत्वात् । पुनर्यः कुमति रेवाग्निस्तत्र समिधति समिद् इन्धनं इवाचरति तद्वृद्धिहेतुत्वात् । पुनर्यो अनीतिलतासु अन्याय वल्लिषु कन्दति कन्द इवाचरति तन्मूलभूतत्वात् । ईदृशो निर्गुणसंगमः श्रेयो वाञ्छता पुरुषेण न श्रेयः न श्रयणीयः । अत्र गिरिशुकपुष्पशुकयोः कथा । माताप्येका पिताप्येको मम तस्य च पक्षिणः । अहं मुनिभिरानीतः स चानीतो गवाशनैः ॥ अहं मुनीनां वचनं शृणोमि गवाशनानां स शृणोति वाक्यम् । प्रत्यक्षमेतद् भवतापि दृष्टं । संसर्गजा दोष गुणा भवन्ति ।

इति गुणिसंगमप्रक्रमः

अथ—दुर्जनों की संगति कैसी है इसका एक मानचित्र चित्रण किया जाता है—जो निर्गुणी की संगति महिमा (प्रतिष्ठा) रूपी कमल को नष्ट करने के लिये तुषार के तुल्य है, पुण्योदय रूपी मेघों को अस्त व्यस्त करने के लिये तीव्रवायु के समान है, दया रूपी उपवन के उजाड़ने के लिये हाथी के तुल्य है, कल्याण रूपी पर्वत

को चूर्ण करने के लिये वज्र समान है, कुबुद्धि रूपी अग्नि को प्रज्व-लित करने के लिये लकड़ी के समान है, अन्याय रूपी लता के लिये जड़ समान है ऐसी यह दुर्जन संगति कल्याण के इच्छुक [मुमुक्षु] जनों को क्या कभी हितकर हो सकती है ? अर्थात् कदापि नहीं।

भावार्थ—जैसे शीतकाल में हिमपात के कारण कमल वन नष्ट हो जाता है या तीव्रपवन से मेघसमूह, हस्ती द्वारा उपवन, वज्रपात द्वारा पर्वत आदि नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार निर्गुणी जनों की संगति से मनुष्यों की प्रतिष्ठा, कीर्ति, न्यायबुद्धि संयम तप आदि नष्ट हो जाते हैं अतः दुर्जनों का समागम हितकर नहीं है।

अथेन्द्रियजयोपदेश माह—

शार्दूलविक्रीडित छन्द

आत्मानं कुपथेन निर्गमयितुं यः शूकलाश्वायते।
कृत्याकृत्यविवेकजीवितहृतौ यः कृष्णसर्पायते ॥
यः पुण्यद्रुमखण्डखण्डनविधौ स्फूर्जत्कुठारायते।
तं लुप्तव्रतमुद्रमिन्द्रियगणं जित्वा शुभंयुर्भव ॥६९॥

व्याख्या—हे साधो तं इन्द्रियगणं पञ्चेन्द्रियसमूहं जित्वा विनिर्जित्य शुभंयुः शुभसंयुक्तो भव। तं कं यः इन्द्रियगणः स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु श्रोत्रसमूहः आत्मानं स्वं कुपथेन कुमार्गेण निर्गम-यितुं नेतुं शूकलाश्वायते दुर्विनीत अश्व इवाचरति तस्य कुमार्गगामि-

स्वभाविश्वात् । पुन य इन्द्रियगण । कृत्य च अकृत्य च कृत्याकृत्ये तयोर्विवेक एव विचार एव जीवित जीवितव्य तस्य हतौ हरणे कृष्ण सर्पायते कृष्णसर्प इवाचरति । पुन यं इन्द्रियगण पुण्यमेव द्रुमा स्तेषा खण्ड वन तस्य खण्डने छेदने स्फूर्जत् कुठारायते । स्फूजत् तीक्ष्ण कुठार इवाचरति । कथभूत इंद्रियगण लुप्तव्रतमुद्र लुप्ता छिन्ना व्रताना मुद्रा मर्यादा येन स स ॥ ६६ ॥

अथ—जो इंद्रियों का समूह अर्थात् इन्द्रिया इस आत्मा को खोटे माग में प्राप्त कराने के लिये चद लगाम घोडे के समान है, तथा जो कार्य अकार्य के ज्ञान रूपी जीवन को नाश करने के लिये काले सप के समान है और जो पुण्य रूपी वृक्ष के वन को काटने के लिये तीक्ष्ण कुठार के समान है ऐसे चारित्र की मर्यादा को नष्ट करने वाले इंद्रियोंके समूहको जीत कर मोक्षगामी हो।

भावाथ—इंद्रिय विषयों के वशीभूत होकर प्राणी कुमार्गगामी, अविवेकी, पापी और चारित्र भ्रष्ट हो जाता है और तो क्या अपने प्राणों को भी गमा देता है जैसा कि कहा है —

कुरङ्गमातङ्गपतङ्गभृङ्गमीनाहता पचभिरेव पंच।
एक प्रमादी स कथ न हन्यते, य सेव्यते पचभिरेव सद्य ।१८।

अथ—स्पर्शन इन्द्रिय के वशीभूत हो हाथी, रसना के वशीभूत मछली, घ्राण इंद्रिय के वशीभूत भौंरा, चक्षु विषय का विषयी पतङ्ग तथा कर्ण इंद्रिय का वशीभूत हिरन अपने प्राणों को गमा बैठता है। एक एक इंद्रिय के विषयीभूत होकर जीव जब अपने

प्राण को खो देते हैं, मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं तो यह प्रमादी पुरुष जो पाचों इन्द्रियों के वशीभूत हो उसका क्या २ अनर्थ नहीं होगा अत इन्द्रिय-विजय ही जीवोंका कल्याणकारी मार्ग है।

पुनराह—

शिखरिणी छन्द

प्रतिष्ठां यन्निष्ठां नयति नयनिष्ठां विघटय-
त्यकृत्येष्वाधत्ते मतिमतपसि प्रेम तनुते ।
विवेकस्योत्सेकं विदलयति दत्ते च विपदं ।
पदं तद्दोषाणां करणनिकुरम्बं कुरु वशे ॥७०॥

व्याख्या—भो भव्य ! तत् करणाना इन्द्रियाणा निकुरुम्ब समूह वशे कुरु वश्यता नय आत्मायत्त विधेहि । तत्कि यत्करणनिकुरुम्ब प्रतिष्ठा महत्त्व निष्ठा अवसान क्षय नयति प्रापयति । पुनर्यत् नयनिष्ठा न्यायस्थिति विघटयति स्फेटयति । पुनर्यत् अकृत्येष्वनाचारेषु मतिं बुद्धि आधत्ते स्थापयति । पुन अतपसि अविरतौ प्रेम तनुते स्नेह करोति । पुनर्यत् विपद आपद कष्ट दत्ते ददाति । पुनर्यत् विवेकस्य कृत्याकृत्यविचारस्य उत्सेक उन्नतत्व विदलयति विध्वंसयति । तत्करणनिकुरुम्ब इन्द्रियसमूह स्ववशे कुरु । कथंभूत दोषाणा पद स्थान ॥ ७० ॥

अर्थ—जो इन्द्रिय-समूह प्रतिष्ठा को बिगाड़ देता है, न्याय-मार्ग को नष्ट करता है, पापकार्यों में बुद्धि लगाता है, कुतप

(सम्यक्त्व रहित मिथ्या तप) में अनुराग बढाता है, ज्ञान के उत्साह को नष्ट करता है, विपत्तियां को उत्पन्न करता है अर्थात् इन्द्रियविषयलोलुपी मनुष्य पर ही अनेक सकट के बादल छाये रहते हैं इस प्रकार समस्त दोषो का स्थान उस इन्द्रियसमूह को वश करो यह आचार्य का उपदेश भव्यात्माओं के लिये है जिससे जगत्-जजाल में जीव अपना जीवन व्यर्थ ही नष्ट न करें।

पुनराह—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

धत्तां मौनमगारमुज्झतु विधिप्रागल्भ्यमभ्यस्यता-
मस्त्वन्तर्गण[1]मागमश्रममुपादत्ता तपस्तप्यतां ।
श्रेयः पुञ्जनिकुञ्जभञ्जनमहावात न चेदिन्द्रिय-
व्रात जेतुमवैति भस्मनि हुत जानीत सर्वं तदा ।।७१।।

व्याख्या—हे साधो ! भवान् मौन धत्ता कुरुता। पुन आगार गृह उज्झतु त्यजतु। पुनर्विधिप्रागल्भ्य सर्व्वाचारचातुर्य अभ्यस्यता कुर्वन्तु। अन्तर्गण गच्छ ग्राममध्ये अथवा अतर्वन वन-मध्ये अस्तु भवतु। पुनरागमश्रम सिद्धातपठन उपादत्ता अगी-कुरुता। पुनस्तपस्तप्यता करोतु। पर चेद्यदि इन्द्रियव्रात इन्द्रिय-समूह जेतु वशीकर्तुं नावैति न जानाति तदा सर्व्वं पूर्व्वानुष्ठान भस्मनि रक्षाया हुत वृथा जानीत। कथभूत इन्द्रियव्रात इन्द्रियसमूह श्रेयसा कल्याणाना पुञ्ज एव निकुञ्ज तस्य भञ्जने महावात वातूल-समान ॥ ७१ ॥

१ वनमित्य पाठः।

अर्थ—चाहे तो मौन धारण करो, घर का त्याग करो, विधि विधान की दक्षता का अभ्यास करो किसी भी गण गच्छादि में रहो, शास्त्र पठन पाठनमें कितना ही परिश्रम करो, चाहे उग्र तपस्या करो, परन्तु यदि कल्याण का पुंज रूप लतामंडप को नष्ट करने में तीव्र पवन के समान प्रवीण इन्द्रियों को जीतना नहीं जानते हो तो वह सब क्रियाकाण्ड भस्म में होम करने के समान व्यर्थ (निष्फल) है।

भावार्थ—यदि मन तथा इंद्रियों को वश में नहीं किया, विषयों में अनगल प्रवृत्ति करते रहे, भक्ष्य अभक्ष्य का कोई विचार नहीं किया तो ऐसे मनुष्यों का मौन धारण, शास्त्राभ्यास, गृह-त्याग, विधि विधान का पाण्डित्य, तप तपन आदि क्रियायें निष्फल हैं उनमे कुछ लाभ नहीं होता अत इंद्रियविजयी बन कर ही कर्तव्य कार्य करना उपादेय है।

पुनर्विशेषमाह—

शार्दूलविक्रीडित छन्द

धर्मध्वंसधुरीणमभ्रमरसावारीणमापत्प्रथा–
लङ्कर्मीणमशर्मनिर्मिति कलापारीणमेकांततः ।
सर्वान्नीनमनात्मनीनमनयात्यंतीनमिष्टेयथा–
कामीनं कुमथाध्वनीनमजयन्नक्षौघमक्षेमभाक् ॥७२॥

व्याख्या—अक्षाणां इन्द्रियाणां ओघं समूहं अजयन् अवशी-कुर्वन् जनः अक्षेमभाक् अकल्याणभाग् भवति। कथंभूतं अक्षौघं

धर्मध्वंसे धुरीण मुख्यत। पुन अभ्रमरसाय सत्यज्ञानस्य आवारीग आवरणाय समर्थं आच्छादक मित्यथ पुन कथंभूत आपदा कष्टाना प्रयाया विस्तारणे भलक्ष्मीण कमक्षमस्त। पुन कि विशिष्ट अनमणा अकल्याणा दुःखाना निर्मिती निर्माणकरणे कलापारीण चतुरस्त। पुन कि विशिष्ट एकाततो निश्चयेन सर्व्वी-नीन सर्वानभक्षकास्त। पुन कि विशिष्ट न आत्मनेहितोऽनात्म-नीनस्त आत्मनोऽहित। पुन कि अनये अन्यायेऽत्यतीगोऽत्यलगामी त। पुन कि इष्टे इष्टवस्तूनि यथाकामस्वेच्छया वर्तते इतियथा कामीन स्तं। पुन कि विनिष्ट कुमते कुत्सितमतेऽध्वनीन पाथस्त। ईदृश इन्द्रियसमूह अजयन् सन अक्षेमभाक् भवति ॥ ७२ ॥

कुरगमातगपतगभृङ्गमीनाहतापचभिरेव पच।
एक प्रमादी स कथ न बध्यते य सेवते पचभिरेव पच ॥

इति इन्द्रियप्रक्रम

अर्थ—धर्मको नाश करने में प्रमुख, सत्यज्ञानके आच्छादक आपत्तियों के बढ़ाने में समर्थ, दुःखों को उत्पन्न करने में निपुण, सर्वथा एकांत रूप से सर्वको भक्षक आत्मा का अकल्याण करने वाले, खोटी नीति में प्रवृत्ति कराने वाले, अपने इष्ट विषयों में स्वेच्छाचारी, कुमार्ग में चलने वाले ऐसे इन्द्रिय समूह का जो व्यक्ति विजय नहीं करता है वह कदापि अपना कल्याण नहीं कर सकता।

भावार्थ—इन्द्रियों को वश किए बिना आत्मा का कल्याण न कभी हुआ और न होगा। जितेन्द्रिय पुरुष ही ध्यान के बलसे

कर्मों की निर्जरा कर मुक्ति पद पाते हैं, देखो तो! विषय लोलुपी सुभौम चक्रवर्ती उच्च पद प्राप्त कर, षट्खण्ड के अधिपति और अतुल वैभवशाली होकर भी इन्द्रिय विजयी न होने से अधोगामी हुए [सप्तम नर्क में गये]।

अथ लक्ष्मीस्वभावमाह—

शार्दूलविक्रीडित छन्द

निम्नं गच्छति निम्नगेव नितरां निद्रेव विष्कम्भते ।
चैतन्यं मदिरेव पुष्यति मदं धूम्येव धत्तेऽन्धताम् ॥
चापल्यं चपलेव चुम्बति दवज्वालेव तृष्णां नय- ।
त्युल्लासं कुलटाङ्गनेव कमला स्वैरं परिभ्राम्यति ॥७३॥

व्याख्या—कमला लक्ष्मी निम्नं नीचं गच्छति। केव निम्नगा इव नदीव यथा नदी नीचं गच्छति। पुनः अतिशयेन चैतन्यं ज्ञानं विष्कभते विनाशयति केव निद्रेव यथा निद्रा अचैतन्यं करोति। पुनर्लक्ष्मीर्मदं अहंकारं पुष्यति पुष्णाति केव मदिरेव सुखे यथा मदिरा मदं वा मत्तता करोति। पुनः कमला अन्धत्ता दत्ते अन्धत्वं करोति। केव धूम्येव धूमसमूह इव यथा धूमोऽन्धं करोति। पुनः लक्ष्मी चापल्यं चुम्बति भजति केव चपला इव विद्युदिव। पुनः कमला तृष्णा उल्लासं नयति लोभं वाञ्छा वर्द्धयति केव दवज्वाला इव यथा दवज्वाला तृषा वर्द्धयति। पुनः कमला स्वैरं स्वेच्छया परिभ्राम्यति परिभ्रमति केव कुलटाङ्गना इव असती स्त्रीव यथा असती स्त्री स्वेच्छया भ्राम्यति तद्वदेव ॥ ७३ ॥

अर्थ—लक्ष्मी की उपमा व्यभिचारिणी स्त्री से दी जाती है यह लक्ष्मी कैसी है—लक्ष्मी नदी के समान सदा नीचे की ओर जाती है, नींद के समान चेतना को मूर्छित कर देती है, मदिरा के समान मद (अहंकार) को बढ़ाती है अर्थात् लक्ष्मीवान् होने के कारण प्रायः मनुष्य अहंकारी हो जाते हैं और अहंकार भाव के कारण दूसरों का अपमान करते हैं अधिक धूम के समान अन्धा बना देती है (अधिक धुएँ के कारण दिखाई नहीं देता इसी प्रकार लक्ष्मीवान् व्यक्ति दूसरों को देखता हुआ नहीं देखता, नहीं गिनता) बिजली के समान मनुष्य के हृदय में चंचलता लक्ष्मी के कारण बढ़ जाती है परिणाम में स्थिरता नहीं रहती, वन की दवाग्नि के समान तृष्णा बढ़ाती है, व्यभिचारिणी स्त्री के समान स्वच्छंद इच्छानुसार यत्र तत्र (जहां कहां) घूमती रहती है।

धनस्य दोषानाह—

शार्दूलविक्रीडित छन्द

दायादाः स्पृहयति तस्करगणा मुष्णति भूमीभुजो ।
गृह्णन्ति छलमाकलय्य हुतभुग्भस्मीकरोति क्षणात् ॥
अम्भः प्लावयते क्षितौ विनिहितं यक्षा हरन्ते हठात् ।
दुर्वृत्तास्तनया नयति निधनं धिग्बह्वधीनं धनं ॥७४॥

व्याख्या—धनं द्रव्यं धिक् अस्तु। धिग् निर्भर्त्सननिंदयोः। किंभूतं बह्वधीनत्वं बहव इच्छति। कथं दायादाः गोत्रिणः स्पृहयति गृहीतुं वाञ्छति। पुनस्तस्कर गणाश्चौरसमूहा मुष्णति चोरयति।

पुन भूमिभुजो राजान छल आकलय्य मिष दत्वा गृह्णन्ति हुतभुग् वह्नि क्षणाद् वेगेन भस्मीकरोति । ज्वालयित्वा रक्षा करोति । पुनरम पानीय प्लावयति वाहयति । पुनर्यद्धन क्षितौ भूमौ विनिहित स्थापित सत् यक्षा व्यतरा हठात् बलात्कारेण हरते अपहरति । पुनर्दुर्वृत्ता दुराचारास्तनया पुत्रा निधन विनाश नयति प्रापयन्ति । एव बह्वधीनं धन धिगस्तु ॥ ७४ ॥

अर्थ—कैसा है धन, भाई बन्धु कुटुम्बी जन जिसके लेने के लिए रातदिन वाञ्छा करते हैं, चोर जिसे चुरा लेते हैं, राजा लोग कूट कपट रच कर जिसे लेते हैं, अग्नि क्षण भर में जला देती है पानी जिसे बहा ले जाता है, पृथ्वीमें गड़े हुए धन को भूत प्रेतादि जबरदस्ती हर लेते हैं, दुराचारी पुत्र जिसे नष्ट कर देते हैं ऐसे अनेक विघ्न बाधाओं के आधीन रहने वाले अर्थात् जिस धन को सभी ससारी जीव चाहते हैं पर सबको मिलता नहीं, ऐसे उस धन को धिक्कार हो।

भावार्थ—धन प्राणों से भी प्यारा होता है जिसका धन चोरी चला जाता है वह पागल हो जाता है, कभी कभी तो मनुष्य धन के नष्ट हो जाने पर अपने प्राणों का भी विसर्जन कर बैठता है ऐसे धन को धिक्कार है।

कहा भी है —(आत्मानुशासन ६५ श्लोक)

अर्थिनो धनमप्राप्य, धनिनोऽप्यवितृप्तित
कष्ट सर्वेऽपि सीदन्ति, परमेको मुनि सुखी ॥

अर्थ—धन के चाहने वाले धन को न पाकर दुखी होते हैं

और धनाढ्यों के धन की कामना अधिक होती है अतः धनी होते हुये भी वे दुखी रहते हैं। इस प्रकार निर्धन और धनी दोनों दुखी हैं सिर्फ मुनि ही सुखी हैं। क्योंकि उन्होंने सब प्रकार के परिग्रह की वांछा छोड़कर परम संतोष धारण कर लिया है।

धनमोहोत्पादकत्वमाह—

शार्दूलविक्रीडित छन्द

नीचस्यापि चिरं चटूनि रचयन्त्यायान्ति नीचैर्नतिं।
शत्रोरप्यगुणात्मनोऽपि विदधत्युच्चैर्गुणोत्कीर्तनं॥
निर्वेदं न विदन्ति किंचिदकृतज्ञस्यापि सेवाक्रमे।
कष्टं किं न मनस्विनोऽपि मनुजाः कुर्वन्ति वित्तार्थिनः।७५।

व्याख्या—मनस्विनो मानवन्तो दक्षा अपि मनुष्या वित्तार्थिनो द्रव्यार्थिनः सन्तः किं कष्टं न कुर्वन्ति। अपि तु सर्वं कष्टं कुर्वन्ति। यथा नीचस्यापि नरस्याग्रे चिरं चिरकालं यावत् चटूनि चाटुवचनानि प्रियवचनानि रचयन्ति कथयन्ति। पुनर्नीचैः नरैः सह नतिं आयान्ति प्रणामं कुर्वन्ति। पुनः शत्रोरपि अगुणात्मनोपि निर्गुणस्यापि उच्चैरतिशयेन गुणोत्कीर्तनं गुणवर्णनं विदधति कुर्वन्ति। पुनः अकृतज्ञस्यापि सेवाक्रमे सेवे सेवाकरणे किञ्चित् स्तोकमपि निर्वेदं खेदं वैराग्यं न विदन्ति न जानन्ति वित्ताशाद्धेतोः सन्तः ॥ ७५ ॥

अर्थ—धन प्राप्त करने के अभिलाषी होकर मनस्वी लोग भी नीच पुरुष की बहुत काल पर्यंत चाटुकारिता (खुशामद, वचन द्वारा हाँ हुजूरी) करते हैं, शत्रु के आगे भी नतमस्तक रहते हैं,

दोषीजनों के भी गुण वर्णन करते हैं, कृतघ्नी मनुष्य की सेवा करने में भी विरक्ति (ग्लानि) नहीं करते। यही बड़े दु ख का विषय है।

भावार्थ—बुद्धिमान् पुरुष को धन की प्राप्ति के लिये तुच्छ-जनों की सेवा, चाटुकारिता करना शोभा जनक नहीं है परन्तु स्वाभिमान स्वप्रतिष्ठा का ध्यान रखते हुये पुण्योदय से प्राप्त वित्त वैभव में सन्तोष रखते हुये धार्मिक जीवन व्यतीत करना ही उत्तम है। इसी भावना के बल से ही इह लोक, परलोक का सुधार समीचीनतया सम्पादन हो सकता है। तृष्णावान् जीव को कभी भी जीवन में सुख शान्ति का अनुभव नहीं हो सकता। मानव जीवन रूपी चिन्तामणि आत्म कल्याण के लिये पाया है न कि पर पदार्थों में परिणति को बिगाड़ कर आत्मपतन के लिये।

उपमानेन श्रीस्वरूपमाह—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

लक्ष्मीः सर्पति नीचमर्णवपयः सङ्गादिवाम्भोजिनी ।
संसर्गादिव कटकाकुलपदा न क्वापि धत्ते पद ॥
चैतन्य विषसन्निधेरिव नृणामुज्जासयत्यञ्जसा ।
धर्मस्थाननियोजनेन गुणिभिर्ग्राह्य तदस्याः फल ॥७६॥

व्याख्या—लक्ष्मी नीच सर्पति नीचजन प्रति याति। कस्मात् उत्प्रेक्षते अर्णवपय सगात् समुद्रजलसगमात् नीचगामिन्यभूत्। पुनर्लक्ष्मी क्वापि पद स्थानं न धत्ते न स्थापयति। कीदृशी अम्भोजिनी ससर्गात् कमलिनी सयोगादिव कण्टकाकुलपदा कण्टकै व्याप्तचर-

षेत्र। पुनर्लक्ष्मी नृंणा पुंसा चैतन्य ज्ञान अचिरा शीघ्रेण उच्छासयति गमयति यस्मात् विपसर्ग नधेर्विपसामीप्यादिव। लक्ष्म्या निपय च समुद्रस्थानस्वात् तत्कारणात् गुणिभिश्चनैर्धर्मस्थाननियोजनेन धर्मस्थानव्ययकरणेनास्या लक्ष्म्या फलं प्राप्य सफलता कर्तव्या इत्यर्थ ॥ ७६ ॥

इति लक्ष्मी स्वभाव प्रक्रम

अर्थ—लक्ष्मी समुद्र के जल की संगति से ही मानों नीचे की ओर गमन करती है कमलिनी के संगम से ही मानों पैरों में काटे चुभने की पीड़ा से आकुलित होती हुई मानों कहीं पर स्थिर पैर नहीं रखती अर्थात् बहुत काल तक एक स्थान पर लक्ष्मी नहीं रहती तथा लक्ष्मी को विष की निकटता रही है इसी हेतु मानों यह लक्ष्मी मनुष्यों की चैतन्य शक्ति को शीघ्र ही मूर्छित कर देती है अत गुणवान् पुरुषोंको धर्म स्थानों में खर्च कर देने से ही इस लक्ष्मी के प्राप्त करने की सफलता ग्रहण करनी चाहिये।

भावार्थ—साहित्यिक वर्णन है कि लक्ष्मी समुद्र से उत्पन्न हुई है और कमल निवासिनी है, समुद्र मन्थन से विष भी उत्पन्न हुआ था अत लक्ष्मी विष की बहिन है। समुद्र-जल से उत्पन्न होने के कारण लक्ष्मी जल के समान नीचे की ओर ही जाती है तथा कमल निवासिनी होने के कारण पैरों में काटे चुभ जाने के भयसे कहीं पर स्थिर नहीं रहती। चचला लक्ष्मीका यह स्वभाव दिखाया है, और विष की बहिन होने के कारण लक्ष्मी मनुष्यों को अचेत कर देती है अर्थात् धन के मदावेश में आकर पुरुष अचेत हो जाता है जिसके कारण पूज्य पुरुषों का भी अपमान कर बैठता है, हिसा-

हित का विवेक नहीं रहता। अतः इसको धर्मकार्यों में लगाने से ही इसके प्राप्त करने की सफलता है। धन खर्च करने के सात क्षेत्र हैं–जिनप्रतिमा, जिनमंदिर, श्रुतज्ञान, मुनि, आर्यिका, श्रावक श्राविका इन सात धर्मस्थानों में लक्ष्मी का सदुपयोग करने वाले पुरुष ही सद्गृहस्थ हैं उन्हींके द्वारा धर्म की अपूर्व प्रभावना होती है, वात्सल्य भाव की वृद्धि होती है, अनेक जीवों का धर्म में धर्म का स्थिति-करण होता है तथा स्व पर कल्याण होता है।

दानोपदेश द्वारमाह–

शार्दूलविक्रीडित छन्द

चारित्रं चिनुते तनोति विनयं ज्ञानं नयत्युन्नतिं।
पुष्णाति प्रशमं तपः प्रबलयत्युल्लासयत्यागमं॥
पुण्यं कन्दलयत्यघं दलयति स्वर्गं ददाति क्रमात्।
निर्वाणश्रियमातनोति निहितं पात्रे पवित्रं धनं॥७७॥

व्याख्या–पवित्रं न्यायोपार्जितं धनं वित्तं पात्रे सुपात्रे निहितं दत्तं सत् चारित्रं संयमं चिनुते वर्द्धयति। विनयं विनयगुणं तनोति प्रीणयति। पुनर्ज्ञानं श्रुतादि उन्नतिं नयति प्रापयति। पुनः प्रशमं उपशमं पुष्णाति पोषयति। पुनस्तपो मासक्षमणादि प्रबल-यति पारणादियोगादुत्साहयति। पुनरागमं सिद्धान्त पठनादि उल्ला-सयति प्रबलं करोति। पुनः सत्कर्मवनं कन्दलयति कन्दलयुक्तं करोति। पुनः अघं पापं दलयति खंडयति। पुनः स्वर्गं ददाति क्रमात् अनुक्रमेण निर्वाणश्रियं मोक्षलक्ष्मीं आतनोति दत्ते इत्यर्थः। सुपात्रे दत्तं धनं एतानि वस्तूनि करोति॥ ७७॥

अर्थ—पवित्र सत्पात्र को दिया हुआ धन चारित्र का संचय करता है विनय बढ़ाता है, ज्ञान की वृद्धि करता है प्रशम (शांत) भाव को परिपक्व करता है तप को प्रबल बनाता है, आगम के ज्ञान को उल्लासित करता है अर्थात् शास्त्र ज्ञान की वृद्धि करता है, पुण्य की जड़ को पुष्ट करता है, पापों को नष्ट करता है, स्वर्ग देता है और क्रम से मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त कराता है।

साराश—पात्र तीन प्रकार के हैं —उत्तम, मध्यम, जघन्य। उत्तम पात्र मुनि, आर्यिका हैं। मध्यम पात्र व्रती श्रावक ग्यारहवीं प्रतिमा तक के धारी तथा जघन्य पात्र व्रत रहित सम्यग्दृष्टी हैं। उत्तम पात्रों को दान देने से उत्तम फल, मध्यम को देने से मध्यम, और जघन्य को देने से जघन्य फल मिलता है। इसका विशेष वर्णन श्रावकाचार ग्रन्थों से जानना पर पात्र दान का फल संक्षेप में इस प्रकार है —

(श्री समन्तभद्राचार्य ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है)

क्षितिगतमिव वटबीज,
पात्रगत दानमल्पमपि काले।
फलति च्छायाविभव,
बहुफलमिष्ट शरीरभृताम्॥

जिस प्रकार वट [बरगद] का बीज बहुत छोटा होता है परन्तु उस छोटे बीज से इतना विशाल वृक्ष होता है कि जिसकी छाया में हजारों पुरुष बैठ सकते हैं। उसी प्रकार पात्रों को भक्ति पूर्वक दिया हुआ थोड़ा भी दान विशिष्ट फल को देता है।

दान देते समय दातार के इतने विशुद्ध परिणाम होते हैं कि जिसकी तुलना नहीं की जा सकती है। उन्हीं विशुद्ध परिणाम के कारण जिस जीव के कुगति बंध होकर परभव सम्बन्धी आयुका बंध यदि नहीं पड़ा है तो वह कुगति बंधको छेद कर सुगति-बंध को कर लेता है। और तो क्या ? दान देने की अनुमोदना करने वाले भी उत्तम क्षेत्र में जाकर जन्म धारण करते हैं। देखिये जब राजा वज्रजंघ और रानी श्रीमती भक्ति पूर्वक मुनियों को दान दे रहे थे उस समय सिंह, बैल, नेवला, बन्दर आदि पशु उस दान, पात्र और दातार की सराहना कर रहे थे। दान देने के माहात्म्य से वे दोनों राजा रानी उत्तम भोग भूमि में उत्पन्न हुए और सराहना करने वाले वे पशु भी उसी उत्तम भोग भूमि के क्षेत्र में तिर्यञ्च पर्याय में अवतरित हुये। कर्म भूमि के प्रारम्भ में राजा वज्रजंघ का जीव प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभनाथ हुये और रानी श्रीमती का जीव श्रेयांस राजा हुये जो दान के प्रथम प्रवर्तक कहलाये इस प्रकार दान की महिमा अद्भुत है। गृहस्थावस्था में षट् कर्म [असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, विद्या शिल्प] द्वारा उपार्जित जो पाप हैं वे दान के प्रभाव से नष्ट हो जाते हैं ऐसा दान तीन प्रकार के पात्रोंमें निरन्तर देना योग्य है।

शार्दूलविक्रीडितछन्द

दारिद्र्य न तमीक्षते न भजते दौर्भाग्यमालम्बते ।
नाकीर्तिर्न पराभवोऽभिलषते न व्याधिरास्कन्दति ।।
दैन्य नाद्रियते दुनोति न दरः क्लिश्नन्ति नैवापदः ।
पात्रे यो वितरत्यनर्थदलनं दानं निदानं श्रियः ।।७८।।

व्याख्या—य पुमान् पात्रे सुपात्रे दान वितरति प्रयच्छति तं पुरुष दारिद्रथ न ईक्षते न पश्यति । पुनस्त दौर्भाग्य दुर्भगत्व न भजते न सेवते । पुन अकीर्तिरयशस्त नालम्बते नाश्रयति । पुन त पराभव परिभवन नाभिलषते न वाछति । पुनर्व्याधिरामय तं नाक्रदति न शोषयति । पुनर्दैन्य दीनता नाद्रियते नाश्रयति । पुनर्दरो भय त न दुनोति न पीडयति । पुन' आपदो व्यसनानि कष्टानि त न क्लिश्नति न पीडयति । य पात्रे दान ददाति । किंभूत दान अनर्थाना उपद्रवाना दलन छेदक । पुन किंभूत श्रिया सपदा निदान कारण ॥ ७८ ॥

अर्थ—जो मनुष्य सत्पात्र के लिये लक्ष्मी बढ़ने का एक मात्र कारण तथा अनर्थों का दूर करने वाला दान देता है उसको दरिद्रता कभी नहीं देखती अर्थात वह दरिद्री कभी नहीं होता, दुर्भाग्य उसकी कभी सेवा नहीं करता, अपकीर्ति उसकी ससार में नहीं होती, तिरस्कार उसका नहीं होता, व्याधियां (रोग) उसको कभी नहीं सताती दीनता उसका आश्रय नहीं करती, भय क्षोभ पैदा नहीं होता आपत्तियां उसको कभी नहीं सताती वह सदा स्वस्थ रहता है ।

भावार्थ—जो पात्राक लिये श्रद्धापूर्वक अपना कर्तव्य समझकर दान देते हैं उसके सभी विघ्न, उपद्रव शान्त हो जाते हैं । गार्हस्थ्य धर्म की शोभा दान से ही है । "गृही दानेन शोभते" ऐसा आचार्यों का वाक्य है । दान बिना घर शून्य माना गया है ।

दानगुणमाह—

शार्दूलविक्रीडित छन्द

लक्ष्मीः कामयते मतिर्मृगयते कीर्तिस्तमालोकते ।
प्रीतिश्चुम्बति सेवते सुभगता नीरोगतालिङ्गति ॥
श्रेयः संहतिरभ्युपैति वृणुते स्वर्गोपभोगस्थिति ।
र्मुक्ति र्वाञ्छति य. प्रयच्छति पुमान्पुण्यार्थमर्थं निजं ॥७९॥

व्याख्या—य पुमान् पुण्यार्थी निज अर्थं स्वकीयं धन प्रयच्छति ददाति त पुरुष लक्ष्मी कमला कामयते वाञ्छति । पुनर्मतिर्बुद्धिस्त मृगयते अन्वेषयति । पुन कीर्तिस्त आलोकते पश्यति । पुन प्रीतिरानदस्त चुम्बति श्लिष्यति । पुन सुभगता सौभाग्य सेवते भजति । पुन नीरोगता आरोग्य त आलिंगति । पुन श्रेय सहति कल्याणपरम्परा त अभ्युपैति सम्मुखमायाति । पुन स्वर्गोपभोगस्थिति र्देवत्वभोगपद्धतिस्त वृणुते वरयति । पुनर्मुक्तिर्मोक्षस्त वाञ्छति य पुण्यार्थी निजं अर्थ प्रयच्छति ॥ ७९ ॥

अर्थ—जो पुरुष अपना धन दानादि पुण्य कार्यों के लिये दे देता है लक्ष्मी स्वय ही उससे मिलने की इच्छा करती है, अर्थात् दान के प्रताप से उसके घर स्वय लक्ष्मी आजाती है, बुद्धि उसे ढूढती है, कीर्ति देखती है, प्रीति उसे स्पर्श करती है, सुभगता [सौभाग्यपना] उसकी सेवा करती है, आरोग्यता आलिङ्गन करती है, कल्याण समूह प्राप्त होता है। स्वर्गों के भोग उपभोग की सामग्री (कल्पवृक्षों द्वारा प्राप्त सुन्दर वस्त्र, पुष्प, वाद्यादि अनेक

प्रकार) प्राप्त होती है तथा मुक्ति भी उसकी इच्छा कर
ऐसा जान कर पात्रोंको सदा काल दान देना योग्य है।

भूयोप्याह—

मन्दाक्रान्ताछन्द

तस्यामन्ना रतिरनुचरी कीर्तिरुत्कण्ठिता
स्निग्धा बुद्धिः परिचयपरा चक्रवर्तित्व
पाणौ प्राप्ता त्रिदिवकमला कामुकी मु
सप्तक्षेत्र्या वपति विपुलं वित्तबीज

व्याख्या—य पुमान् निज स्वकीय
बीज सप्तक्षेत्र्यां जिनभवन १ जिन बिंब २
रूपायां वपति तस्य पुरुषस्य रति
साया तस्य कीर्तिरनुचरी सेविका स्यात्,
धार्यद्दिरण्यरूपा उत्कंठिता स्निग्धोत्सु
कान्ता स्निग्धा स्नेहवती स्यात्तथा तस्य
सार्वभौम विभूति सुपरिचिता स्यात्।
श्री पाणौ हस्ते प्राप्ता संगता स्यात्तथा
की साभिलाषा स्यात् सप्तक्षेत्र्यां
अत्र प्रथमसालिमद्र ...

अर्थ—जो पुरुष अपना बहुत
बोता है (सातक्षेत्र —जिन प्रतिमा,
आर्यिका श्रावक, श्राविका, ये सात
बन जाती है कीर्ति उसकी दासी रहती

ष्ठित रहती है, बुद्धि उससे प्रेम करती है चक्रवर्तिकी ऋद्धियां उसमे परिचय रखती हैं, स्वर्ग की लक्ष्मी उसके हाथमें आजाती है, और तो क्या मुक्ति-लक्ष्मी उसकी अभिलाषा करती है।

भावार्थ—जो पुण्यात्मा पुरुष धार्मिक नीति से कमाये हुये धन को धार्मिक कार्यों में खर्च करते हैं अर्थात् जिन प्रतिमा, जिन मन्दिर बनवाने में या उनका जीर्णोद्धार करानेमें शास्त्रोंको लिखने लिखाने व वितरण करनेमें तथा मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका के आहार दान में, औषधिदान में उनकी परिचर्या करने कराने में अपना रुपया लगाते हैं उन्हीं का धन पाना सफल है वे ही मनुष्यों में शिरोमणि हैं, उन्हीं का मनुष्य जन्म पाना धन्यवाद के योग्य है, उनसे सभी जीव प्रेम करते हैं संसार में उनकी चारों ओर कीर्ति फैलती है, लक्ष्मी उनके चरणों में लोटती है उनकी विशिष्ट बुद्धि या प्रतिभा होती है, चक्रवर्ति की विभूति भी उन्हें प्राप्त होती है, स्वर्ग की लक्ष्मी तथा मुक्ति लक्ष्मी तक उन्हें प्राप्त होती है इसलिये पात्रों को दान देना, उनकी सेवा भक्ति करना औषधि देना, उनके दुख संकट उपसर्ग को दूर करना, उनकी ज्ञान वृद्धि के हेतु शास्त्रों को वितरण करना श्रावकोंका कर्तव्य है।

अथ तप उपदेशद्वारमाह—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

यत्पूर्वार्जितकर्मशैलकुलिशं यत्कामदावानल-
ज्वालाजालजलं यदुग्रकरणग्रामाहिमन्त्राक्षरम्।

यत्प्रत्यूहतमः समूहदिवस य ल्लब्धिलक्ष्मीलता-
मूल तद्द्विविध यथाविधि तपः कुर्वीत वीतस्पृहः ॥८१॥

व्याख्या—वीतस्पृह वीता गता स्पृहा वाञ्छा यस्य स वीत-स्पृह सन् वाञ्छा निदानादि रहित सन् तद्द्विविध तप कुर्वीत कुर्यात् तत्कि यत्तप पूर्वे भवे अर्जितानि उपार्जितानि यानि कर्माणि तान्येव शैला पर्वतास्तेषु कुलिश वज्र तेषा छेदकत्वात। पुनर्यत्तप यत्काम एव दावानलोदावाग्निस्तस्य ज्वालाना जाल समूहस्तत्र जल तद्वि नाशकत्वात्। पुनर्यत्तप उग्रो दारुणो य करणाना इन्द्रियाणा ग्राम समूह स एवाहि सर्पस्तस्य मन्त्राक्षर सर्वमन्त्रस्य बीज। पुनर्यत्तप प्रत्यूहा एव विघ्ना एव तमसोऽधकारस्य समूहस्तत्र दिव दिन तन्नाश करत्वात। पुनर्यत्तपो लब्धिलक्ष्मी लब्धि रापदैव लता वल्लीस्तस्या-मूल उत्पादनकद तद्द्विविध द्वादशप्रकार तप कुर्वीत ॥ ८१ ॥

अर्थ—जो तप पूर्व भव में उपार्जित किये गये कर्मरूपी पर्वत को भेदने के लिये वज्रसमान है, काम रूपी दावानलकी ज्वालाओं को बुझाने के लिये जल के समान है प्रचण्ड इन्द्रियों के समूह रूपी सर्प को वश करनेके लिये मन्त्र के समान है, विघ्न रूपी अन्धकार-समूह को नाश करने के लिये दिन-समान है तथा जो तप सब केवल लब्धि की लक्ष्मी रूपी बेल का मूल कारण है। वह दो प्रकार (अन्तरग, बहिरग) का तप निस्पृह होकर विधिपूर्वक करना चाहिये।

भावार्थ—इच्छा निरोध तप से ही पूर्वभव के सचित कर्मों की निर्जरा होती है, कामादि विकार परिणति दूर हो जाती है,

इन्द्रियों का दमन होता है, विघ्न आदि शांत हो जाते हैं, क्षायिक-ज्ञान क्षायिक दर्शन आदि नव लब्धियां भी तप के बल से प्राप्त होती हैं। ऐसा जान कर बाह्य आभ्यन्तर दो प्रकार का तप निदान रहित करना चाहिये।

तप प्रभावनामाह—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

यस्माद्विघ्नपरम्परा विघटते दास्यं सुराः कुर्वते।
कामः शाम्यति दाम्यतीन्द्रियगणः कल्याणमुत्सर्पति॥
उन्मीलन्ति महर्द्धयः कलयति ध्वंसं च यः कर्मणां।
स्वाधीनं त्रिदिवं शिवं च भवति श्लाघ्यं तपस्तन्न किं।८२।

व्याख्या—तत्तपः किं श्लाघ्यं न प्रशस्यं न अपि तु श्लाघ्यमेव। तत्किं यस्मात्तपसो विघ्नपरंपरा कष्टश्रेणिर्विघटते विलयं याति। पुनः सुरा देवा दास्यं दासत्वं कुर्वते। पुनर्यस्मात्कामः शाम्यति उपशमं याति। पुनरिन्द्रियगणः पञ्चेन्द्रियसमूहो दाम्यति दमं प्राप्नोति। पुनर्यस्मात्तपसः कल्याणं श्रेयः उत्सर्पति प्रसरति। पुनर्यस्मान्महर्द्धयस्तीर्थकरादिसंपदः उन्मीलंति विकसंति। पुनर्यस्मात् कर्मणां ज्ञानावरणीयादीनां चयं समूहो ध्वंसं नाशं कलयति प्रयाति पुनर्यस्मात्तपसः त्रिदिवं स्वर्गं च पुनः शिवं मोक्षं स्वाधीनं स्वायत्तं स्यात् तत्तपसः किं श्लाघ्यं न स्यात्। अपितु श्लाघ्यमेव॥ ८२॥

अर्थ—जिस तप के प्रभाव से विघ्नों का समूह नष्ट हो जाता है, देव भी सेवक बनकर सेवा करते हैं काम की विकार परिणति शान्त हो जाती है, इन्द्रियां वशीभूत हो जाती हैं कल्याण

उन्नत दशा को प्राप्त होता है, अनेकों महान् ऋद्धियां स्वयमेव प्रगट हो जाती हैं, कर्मों की गुणश्रेणि निर्जरा होती है तथा जिसके प्रभाव से स्वर्ग और मोक्ष अपने आधीन हो जाते हैं ऐसा तप फिर प्रशंसा योग्य क्यों न हो ? किन्तु अवश्य ही प्रशंसा योग्य है।

पुनश्च—

शार्दूलविक्रीडित छन्द

कान्तारं न यथेतरो ज्वलयितुं दक्षो दवाग्निं विना ।
दावाग्निं न यथापरः शमयितुं शक्तो विनाम्भोधरं ॥
निष्णातः पवनं विना निरसितुं नान्यो यथाम्भोधरं ।
कर्मौघं तपसा विना किमपरं हर्तुं समर्थस्तथा ॥८३॥

व्याख्या—यथा कांतारं वनं ज्वालयितुं दवाग्निं विना इतरो अन्यो दक्षो न। पुनर्यथा दावाग्निं शमयितुं विध्यापयितुं अम्भोधरं मेघं विनाऽपरः शक्तो न समर्थो न। पुनर्यथाऽम्भोधरं मेघं निरसितुं दूरीकर्तुं पवनं विनान्यो न निष्णातो न निपुणः तथैव कर्मौघं कर्मसमूहं हर्तुं छेत्तुं तपसा विनाऽन्यत्किं समर्थः अपितु न किमपि किंतु तप एव कर्माणि हर्तुं समर्थं ॥ ८३ ॥

अर्थ—जैसे वन को जलाने के लिये दावानल अग्नि के बिना अन्य दूसरा समर्थ नहीं है, दावानल को शांत करने के लिये बिना मेघों के अन्य कोई समर्थ नहीं है, जैसे मेघों को छिन्न भिन्न करने के लिए पवन बिना दूसरा शक्तिमान नहीं है उसी प्रकार कर्मों को नष्ट करने के लिये तप के बिना क्या कोई दूसरा समर्थ है ? अर्थात् कोई नहीं है।

भावार्थ—तप की सामर्थ्य से कर्मों की निर्जरा होती है अन्य दूसरा कोई साधन नहीं है। जन्म जन्मान्तर के संचित कर्म तप बल से ही नष्ट होते हैं अतः यथाशक्ति तप अवश्य करना चाहिए।

पुनराह—

स्रग्धरा छन्द

सन्तोषस्थूलमूलः प्रशमपरिकरः स्कन्धबन्धप्रपञ्चः।
पञ्चाक्षीरोधशाखः स्फुरदभयदलः शीलसंपत्प्रवालः॥
श्रद्धाम्भःपूरसेकाद्विपुलकुलबलैश्वर्यसौन्दर्यभोगः
स्वर्गादिप्राप्तिपुष्पः शिवसुखफलदः स्यात्तपः पादपोऽयम्॥८४॥

व्याख्या—अयं तप एव पादपो वृक्ष शिवसुखफलदः स्यात् शिवसुखान्येव फलानि ददातीति शिवसुखफलद मोक्षफलदाता स्यात्। किंभूत तप पादप संतोषो मूर्च्छात्याग एव स्थूल पुष्ट मूल यस्य स। पुन किंभूत प्रशम क्षमा एव परिकर परिवारो यस्य स। पुन किं भूत स्कन्धा आचारांगादिश्रुतस्कन्धास्तेषा बन्धो रचना एव प्रपञ्चो विस्तारो यस्य स। पुन किंभूत पञ्चाना अक्षाणा इन्द्रियाणा समाहार पञ्चाक्षी रोध एव शाखा यस्य स। पुन किं भूत स्फुरत् देदीप्यमान अभय अभयदानमेव दल यस्य स। अथवा स्फुरन्ति प्रकटानि विनय रूपाणि दलानि पत्राणि यस्य स। पुन किंभूत शीलसंपदेव महाव्रतमेव प्रवाला नवपल्लवा यस्य स। पुन किंभूत श्रद्धा रुचि सैव अम्भ पानीय तस्य पूरस्तेनसेक सिंचन तस्मात् विपुलानि विस्तीर्णानि कुलबलैश्वर्यसौंदर्या-

एव भोगो यस्य स अथवा विपुलकुलश्चैश्वर्यान्येव विस्तारस्य भोगो यस्य स। पुन किं भूत स्वर्गादीनां देवलोकसंबधकानुत्तरविमानानां प्राप्तय एव पुष्पाणि यस्य स। ईदृग्तप एव पादपो वृक्ष। स शिवसुखमेव फल ददाति ॥ ८४ ॥

अत्र वसुदेव हरिकेशबलकथा ॥

अर्थ—यह तप वृक्ष के समान है कैसा है तपरूप वृक्ष सन्तोष ही है दृढ जड जिसकी, प्रशम संवेगादिरूप स्कन्ध बन्ध का फैलाव है जिसका, पांचों इन्द्रियों के निरोध रूप शाखायें हैं जिसकी देदीप्यमान अभय पत्र [पत्ते] लग रहे हैं जिसके, शील सम्पत्ति रूपी कोंपलें है जिसकी, श्रद्धा रूपी जल के सींचने से उत्तम कुल, विपुल ऐश्वर्य सुन्दरता नाना प्रकार के भोग युक्त स्वर्गादिरूप पुष्प हैं जिसके ऐसा तप रूपी वृक्ष मोक्ष पद रूपी फल को देता है।

भावार्थ—लोक पूज्य महान् उत्तम फल को देने वाले ऐसे तप रूपी वृक्ष की विषयादि रूपी अग्नि से रक्षा करना योग्य है अन्यथा यह सर्वथा नष्ट हो जायगा।

भावोपदेशमाह—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

नीरागे तरुणी कटाक्षितमिवत्यागव्ययेनप्रभोः।
सेवाकष्टमिवोपरोपणमिवाम्भोजन्मनामश्मनि ॥
विष्वग्वर्षमिवोपरक्षितितले दानार्हदर्चातप।
स्वाध्यायाध्ययनादि निष्फलमनुष्ठान विना भावनां ॥८५॥

व्याख्या—भावना शुभभावना विना दानार्हदर्चातप स्वाध्यायाध्ययनादि सर्वमनुष्ठानं क्रियाकरणं निष्फलं स्यात्। दानं प्रसिद्धं च अर्हदर्चा देवपूजा च तपश्च स्वाध्यायश्च ते आदौ यस्य तत् दानजिनपूजातपः सिद्धांतपठनादिकं भावं विना निःफलं किमिव। नीरागे पुरुषे तरुणी कटाक्षितमिव युवतीकटाक्षविक्षेपणमिव। यथा नीरागे नरे तरुणी कटाक्षा निष्फला। पुनः किमिव त्यागव्यपेतप्रभौ दानरहिते कृपणे स्वामिनि सेवाकष्टं इव यथा अदातरि स्वामिनि सेवाकष्टं निःफलं। पुनः किमिव अश्मनि पाषाणे अम्भोजन्मनां कमलानां उपरोपणं वपनं इव यथा पाषाणोपरिकमलवापनं निःफलं। पुनः किमिव ऊषरक्षितितले ऊषरभूमौ विष्वग् वर्षमिव यथोषरभूमौ सर्वतो मेघवर्षणं निःफलं तथा शुभभावना विना सर्वा-क्रिया निःफला ॥ ८५ ॥

अर्थ—जैसे वीतरागी पुरुष के सामने युवा स्त्री के कटाक्ष निष्फल हैं, जैसे धन न देने वाले स्वामी की सेवा करना कष्टमात्र है अर्थात् व्यर्थ है, जैसे पत्थर में कमलों का उगाना व्यर्थ है उसी प्रकार अनित्य अशरण आदि बारह भावनाओं के चिन्तवन बिना दान देना, अरहन्त वीतराग की पूजा करना, तप करना, स्वाध्याय करना कराना आदि सभी क्रियायें निष्फल हैं।

भावार्थ—जैसे अंक बिना बिन्दी का कोई मूल्य नहीं है उसी प्रकार मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ भावनाओं के बिना और अनित्य अशरण आदि भावनाओं के भाये बिना दान, पूजा, तप, स्वाध्याय आदि अनुष्ठान निष्फल हैं इसलिये उत्तम भावनाओं के साथ साथ ही उत्तम क्रियायें करना उत्तम फलदायक हैं।

पुनराह—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

सर्वं ज्ञीप्सति पुण्यमीप्सति दयां धित्सत्यघं भित्सति ।
क्रोधं दित्सति दानशीलतपसां साफल्यमादित्सति ॥
कल्याणोपचयं चिकीर्षति भवाम्भोधेस्तटं लिप्सते ।
मुक्तिस्त्रीं परिरिप्सते यदि जनस्तद्भावयेद्भावनाम् ॥८६॥

व्याख्या—यदि जनो लोकः सर्वं वस्तु ज्ञीप्सति ज्ञातु इच्छति। पुनर्यदि पुण्यं धर्मं ईप्सति वाञ्छति। पुनर्यदिजनो दया कृपा धित्सति धर्तुं इच्छति। पुनर्यदि अघं पापं भित्सति भातु दतु-मिच्छति। पुनर्यदि क्रोधं रोषं दित्सति खण्डितु इच्छति। पुनर्यदि दानशीलतपसां साफल्यं सफलत्वं आदित्सति ग्रहीतु-मिच्छति। यदि पुनः कल्याणोपचयं कल्याणवृद्धिं चिकीर्षति कर्तुं वाञ्छति। पुनर्यदि भवाम्भोधेः संसारसमुद्रस्य तटं पारं लिप्सति लब्धुमिच्छति। पुनर्यदि मुक्तिस्त्रीं सिद्धिरमणीं परिरिप्सते आलि-गितुमिच्छति जनस्तदा भावनां शुभभावं भावयेत् कुर्यादित्यर्थः ॥८६॥

अर्थ—यदि मनुष्य सर्वज्ञ होने की इच्छा करता है, पुण्य की वाञ्छा करता है, दया धारण करना चाहता है पापों को नष्ट करना चाहता है, क्रोध को भेदन करना चाहता है दान शील तप की सफलता चाहता है, निरन्तर कल्याण करने की चाह रखता है संसार रूपी समुद्र के किनारे पर आना चाहता है और मुक्ति स्त्री के वरण की इच्छा रखता है तो निरन्तर बारह भावना भावे अर्थात् चिंतवन करे इन भावनाओं के चिन्तवन करने से शान्तिरस क

अनुभव होता है, वैराग्य भावों की वृद्धि होती है अत भावनायें सदा भावने योग्य हैं।

पुनर्विशेषमाह—

पृथ्वीछन्द

विवेकवनसारिणीं प्रशमशर्मसंजीविनीं।
भवार्णवमहातरीं मदनदावमेघावलीं ॥
चलाक्षमृगवागुरां गुरुकषायशैलाशनिं।
विमुक्तिपथवेसरीं भजत भावनां किं परैः ॥८७॥

व्याख्या—भो भव्या! भावना शुभपरिणामरूपा भजत सेवध्वं परै रन्यै कष्टानुष्ठानैः शुभभावरहितैः किं न किंचिदित्यर्थः। कथंभूता भावना विवेकः कृत्याकृत्यविचार एव वनं तत्र सारणि कुल्या ताम्। पुनः प्रशमशर्मणः उपशमसुखस्य संजीवनी जीवनकर्त्री ताम्। पुनः किंभूता भव एव संसार एव अर्णवः समुद्रस्तत्र महातरीं महानावं। पुनः किं भूता मदन एव दावो दावाग्निस्तत्र मेघावली श्रेणिः। पुनः किं भूता चलानि चञ्चलानि यानि अक्षाणि इन्द्रियाण्येव मृगा हरिणास्तेषु वागुरां मृगजालं पाशबन्धनं। पुनः किं भूता गुरवोऽतिप्रचण्डा कषायरूप एव शैलः पर्वतः तत्र अशनिः वज्रः। पुनः किं भूता विमुक्तेः सिद्धेः पंथास्तत्र वेसरीं अश्वतरीं सद्भारवाहिका तस्माच्छुभभावनामेव कुर्वन्तु ॥ ८७ ॥

अर्थ—जो विवेक रूपी वनको सिंचन करनेके लिये कृत्रिम नदी समान है नहर-समान है, शांतिभाव रूप सुख की संजीवनी औषधि है, संसार रूपी समुद्र के तिरने के लिए महान् नौका है, काम रूपी

दावानल को शान्त करने के लिये मेघमाला है, चचल इन्द्रिय रूपी हिरण को पकड़ने का जाल [पाश] है, प्रबल कषाय रूपी पर्वत को भेदन करने के लिये वज्रके समान और मुक्ति के मार्ग में शीघ्र तया गमन करने के लिये खच्चरी के समान है ऐसी भावना सदा भजने (भावने) योग्य है दूसरे कार्यों से कुछ लाभ नहीं है।

भावार्थ—अन्य सभी कार्यों को छोड़ कर भावनाओं का निर तर चिन्तवन करना चाहिए। इसी भावना के बल से अनादि काल से चली आई पर पदार्थों को अपनानरूप पर परिणति दूर हट कर, स्वपरिणति (आत्मा की भावना) जागृत होती है अर्थात् मिथ्यात्वपरिणति रूप अ धकार नष्ट होता है, हृदय में सम्यक्त्व ज्योति का आविर्भाव [प्रगट] होता है। इसीसे प्राणिमात्र का कल्याण होता है।

पुनराह—

शिखरिणीछन्द

घन दत्त वित्त जिनवचनमभ्यस्तमखिल ।
क्रियाकाण्ड चण्ड रचितमवनौ सुप्तमसकृत् ॥
तपस्तीव्र तप्त चरणमपि चीर्णं चिरतर ।
न चेच्चित्ते भावस्तुषवपनवत्सर्वमफलम् ॥८८॥

व्याख्या—घन प्रचुर वित्त धन पात्रेभ्यो दत्त। पुनरखिल समस्त जिनवचन जिनागमरूप अभ्यस्त पठित। पुनश्चण्ड भीम क्रियाकाण्ड लोचादि रचित कृत। पुनरवनौ भूमौ असकृद्वार वार सुप्त शयनं कृत। पुनस्तीव्र दुष्कर तपस्तप्त तप कृत। पुनश्चरण चारित्रं

चिरतरं बहुकालं चीर्णं सेवितं पालितं परं नैवादि चित्ते हृदि भावो न शुभभावना नास्ति तदा धायस्य तुषवपनवत् सर्वो पूर्वोक्त विफल स्यात् अत्र महत्त्वे भरतप्रसन्न चन्द्रराजर्षीणां कथा ॥ ८८ ॥

इति भावना प्रक्रम

अर्थ—जिसने जीवन में बहुत धन का दान दिया समस्त शास्त्रों का अभ्यास किया, प्रचण्ड क्रिया काण्ड भी किया, सदा पृथ्वी पर ही कष्ट सहन करता हुआ शयन किया, घोर तपस्या की, चिरकाल तक चारित्र का भी पालन किया, किन्तु यदि भावना उत्तम नहीं है अर्थात् आत्मचिन्तवन पूर्वक ये कार्य नहीं किये तो तुष (धान के छिलके) के बोने के समान सब क्रियाकाण्ड निष्फल है।

भावार्थ—जैसे तुष के वपन (बोना) करने से चावल उत्पन्न नहीं होता अतः तुष का बोना व्यर्थ है इसी प्रकार शुद्ध भावना अर्थात् निर्मल भावों के बिना उत्कृष्ट क्रियाकाण्ड करना भी निष्फल है इसलिए प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि निरन्तर निर्मल भावना रखे, न जाने कब परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध हो जाय। आयु बन्ध के योग्य आठ अपकर्ष काल माने गये हैं (जिसका विशेष वर्णन गोम्मट्टसार जीवकाण्ड, राजवार्तिक, आदि ग्रन्थोंसे जानना) उन आठ अपकर्ष कालों के समय जिस जीव के जैसे निर्मल या मलिन परिणाम होते हैं तदनुसार ही सुगति कुगति सम्बन्धी आयु का बन्ध जीवों के हो जाता है जिसका हटाना असम्भव है। हां, परभव सम्बन्धी आयु की स्थिति का अपकर्ष, उत्कर्ष तो हो सकता

है पर उसका सर्वथा क्षय (उदीरणा) असम्भव है अत सदैव सद्भावना जीवन की सफलता का सूचक है।

अथ वैराग्यमाह—

हरिणीछन्द

यदशुभरजः पाथो दृप्तेन्द्रियद्विरदाङ्कुशं ।
कुशलकुसुमोद्यानं माद्यन्मनःकपिशृङ्खला ॥
विरतिरमणीलीलावेश्म स्मरज्वरभेषजम् ।
शिवपथरथस्तद्वैराग्यं विमृश्य भवाभयः ॥८९॥

व्याख्या—भो मुने! तद्वैराग्यं विमृश्य चित्तविचार्य अभय संसाररहितो भव। तत्किं यद्वैराग्यं अशुभं पापमेव रजोधूलिस्तत्र पाथो जलं तदुपशमकृतत्वात्। पुनर्यत् वैराग्यं माद्यन् मदोन्मत्तो यो मन एव कपिर्वानरस्तस्य शृङ्खला निगडो बन्धनं। पुनः किं विशिष्टं कुशलमेव कुसुमानि तेषां उद्यानं पुष्पारामं। पुनर्यानि इन्द्रियाण्येव द्विरदा गजास्तेषां अंकुशं वशयकरं। पुनर्यत् विरतिरमणी लीलावेश्म विरतिरमणी देशविरतिरेव रमणी स्त्री तस्या एव लीलावेश्मक्रीडागृहं। पुनर्यत् स्मरज्वरभेषजं स्मर एव ज्वरस्तस्यौषधं कामज्वरौषधं। पुनर्यत् शिवपथरथं मोक्षमार्गे रथसमानं। तद्वैराग्यं विमृश्य विचार्य अभय संसारभयरहितो भव ॥ ८९ ॥

अर्थ—जो वैराग्य पाप रूपी धूल के बहाने के लिये जल के समान है मदोन्मत्त इन्द्रिय रूपी हाथी को वश में करने के लिये अंकुश समान है, जो कल्याण रूपी पुष्पों के बाग समान है, मदोन्मत्त मन रूपी बन्दर को वश करने के लिए साकल समान

विरति रूपी स्त्री के क्रीड़ा-गृह समान है, काम रूप ज्वर को नाश करने को औषधि समान है, और जो मोक्षमार्ग में ले जाने के लिये रथ समान है ऐसे वैराग्य का हृदय में चिन्तवन करके हे भव्य ! तुम निर्भय बनो। ऐसा जान कर निरन्तर वैराग्य का चिन्तवन करना चाहिये।

पुनराह—

वसन्ततिलकाछन्द

चण्डानिल' स्फुरितमब्दचयं दवार्चि ।
र्वृक्षव्रज तिमिरमण्डलमर्कबिम्बम् ॥
वज्र महीध्रनिवह नयते यथान्तं ।
वैराग्यमेकमपि कर्म तथा [illegible] ॥९०॥

व्याख्या—यथा चडानिल प्रचण्डवायु [illegible] मेघघटात अत विनाश नयते प्रापयति। पुन [illegible]-व्रजं द्रुमसमूह अत प्रापयति। पुनर्यथा [illegible] अधकारसमूह अत नयते। पुनर्यथा वज्र [illegible]-समूह अतं विनाश नयति प्रापयति। [illegible] कर्म अत नयति ॥ ६० ॥

अर्थ—जैसे प्रचण्ड पवन [illegible] मेघ समूह को नष्ट कर देता है, दावानल वृक्षों के समूह को नष्ट कर देती है, सूर्य का बिम्ब अन्धकार राशि को नाश कर देता है, [illegible] के नाश कर देता है, वैसे ही एक वैराग्य [illegible] कर्मों का [illegible] देता है।

भावार्थ—वैराग्य परिणति का अद्भुत माहात्म्य है। वैराग्य परिणति से भव भवान्तरों के संचित कर्म एक क्षण में नाश हो जाते हैं। भर्तृहरि कृत नीतिशतक में कहा है —

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद् भयम्।
मौने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम्॥
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयम्।
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्॥ १॥

अर्थ—संसार के भोगों में रोग का डर रहता है अर्थात् भोग भोगने के कारण रोग प्राप्त हो जाते हैं कुल में पतित होने का भय रहता है, अर्थात् दुराचार के कारण व्यक्ति कुलसे पतित हो जाता है अधिक धनी हो जाने पर राजा द्वारा धन छीने जाने का भय रहा करता है, मौन धारण में दीनता का भय रहता है, बल में शत्रु के आक्रमण का भय बना रहता है, रूपवान (सुन्दर) होने पर भी बुढापे का भय है क्योंकि वृद्धावस्था में रूप नष्ट हो जाता है अनेक शास्त्रों का पाठी हो जाने पर भी वाद विवाद का भय रहता है, गुणवान होने पर भी दुर्जनों से भय बना रहता है, उत्तम बलिष्ठ शरीर प्राप्त हो जाने पर भी कालसे ग्रसित होने का भय रहता है। इस प्रकार सांसारिक पदार्थों में सर्वत्र भय का अन्देशा है। एक वैराग्य ही ऐसा है जो भयरहित है। जिस समय संसार देह, भोगों के स्वरूप को चिन्तवन कर मनुष्य के हृदय में वैराग्य की भावना जागृत हो जाती है दुर्धर दिगम्बर दीक्षा धारण में दृढ़ विश्वास हो जाता है उस समय उस वैराग्य रूपी दृढ़ शृङ्खला को तोड़ने में कोई

भी साहसी सामना नहीं कर सकता अर्थात् अनेकों भय के कारणों का प्रदर्शन किये जाने पर भी वह वीर वैरागी पुरुष अपने दृढ़ एवं अकाट्य विचारों से मुह नहीं मोड़ता किन्तु वैराग्यावस्था धारण कर ही लेता है इसलिये कहा है वैराग्य ही अभय है।

शिखरिणीछन्द

नमस्या देवानां चरणवरिवस्या शुभगुरो- ।
स्तपस्या निःसीमक्लमपदमुपास्या गुणवतां ॥
निषद्यारण्ये स्यात्करणदमविद्या च शिवदा ।
विरागः क्रूराग:क्षपणनिपुणोऽन्तः स्फुरति चेत् ॥९१॥

व्याख्या—चेद् यदि अत चित्ते विरागो वैराग्यम् स्फुरति वर्तते तदा देवाना नमस्या नमस्करण शिवदा मोक्षदायिनी स्यात्। पुन शुभगुरो चरणवरिवस्या स्यात् चरणयो सेवा तदा शिवदा स्यात्। पुन नि सीमक्लमपदम् अत्यन्तश्रमपद ईदृशी तपस्या तदैव शिवदा स्यात्। पुन गुणवता ज्ञानादिगुणयुक्ताना उपास्या सेवापि तदैव शिवदा स्यात्। पुनररण्ये वने निषद्या स्थितिस्तदैव शिवदा स्यात्। पुन करणदमविद्या इन्द्रियदमनविधिरपि तदैव शिवदा स्यात्। यदि अतर्मध्ये विरागो भवति। कथमूतो विराग क्रूराग क्षपणनिपुण क्रूर घोर यदागोऽपराधस्तस्यक्षपणे क्षयकरणे निपुणश्चतुर ॥ ९१ ॥

अर्थ—यदि तीव्र पापों के क्षय करने की सामर्थ्य वाला वैराग्य भाव हृदय में स्फुरायमान (प्रगट) हो जाय तो देवाधिदेव वीतराग का नमस्कार कार्यकारी हो जाय अथवा वीतराग देव की पूजा सफल हो जाय, गुरुओं के चरण कमलोंकी उपासना सफल हो

जाय मर्यादा रहित क्लेश देने वाली तपस्या कार्यकारी हो जाय, गुणवानों की उपासना कार्यकारी हो जाय, वनमें योगासन करना सफल हो जाय मुक्ति पद देने वाली इन्द्रिय के दमन की विद्या सफल हो जाय।

भावार्थ—वीतराग भाव बिना कोई भी कार्य कार्यकारी नहीं है इसलिये वीतराग भाव का अवलम्बन ही कार्यकारी है।

विरक्तगुणमाह—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

भोगान्कृष्णभुजंगभोगविषमान् राज्यं रजः सन्निभं ।
बधून्बधनिबधनानि विषयग्रामं विषान्नोपमं ॥
भूतिं भूतिसहोदरां तृणतुलं स्त्रैणं विदित्वा त्यजन् ।
तेष्वासक्तिमनाविलो विलभते मुक्तिं विरक्तः पुमान् ॥९२॥

व्याख्या—विरक्तो वैराग्ययुक्तः पुमान् मुक्तिं विलभते सिद्धिं प्राप्नोति। किं कृत्वा भोगान् शब्दादीन् कृष्णभुजङ्गभोगविषमान् कृष्णश्चासौ भुजगं सर्पस्तस्य भोगं शरीरं तद्वद् विषमान् भीमान् विदित्वा ज्ञात्वा तेषु अत्यासक्तिं अत्यभिलाषं त्यजन्। पुनः राज्य आधिपत्यं रजः सन्निभं धूलिसदृशं मत्वा त्यजन्। पुनर्बधून् स्वजनान् कर्मबन्धस्य निबन्धनानि कारणानि मत्वा। पुनर्विषयग्रामं विषयसमूहं विषान्नोपमं विषमिश्रितान्नसमं मत्वा। पुनर्भूतिं ऋद्धिं भूतिसहोदरां भस्मभगिनीं रक्षासदृशीं मत्वा। पुनस्त्रैणं स्त्रीणां समूहं तृणमिवतृणसदृशं विदित्वा तेषु आसक्तिं अत्यभिलाषं त्यजन्। कथम्भूतो विरक्तः पुमान् अनाविलः रागद्वेषाद्यनाकुलः ॥ ९२ ॥

इति वैराग्यप्रक्रमः।

अर्थ—विरक्त पुरुष संसार के विषय भोगों को काले सर्प के फण के समान भयंकर जानकर, राज्य को धूलि के समान जानकर, भाई आदि कुटुम्बी जनों को बन्ध के कारण जानकर, इन्द्रिय विषयों को विष मिश्रित अन्न के समान जानकर, धन धान्यादि विभूतिको मान की अग्नि समान जानकर, स्त्रीजनित सुख को तृणतुल्य जानकर उन पदार्थों में अर्थात् भोग, राज्य, बन्धु, विभूति, स्त्री में आसक्ति को छोड़कर अत्यन्त विशुद्ध होता हुआ मुक्ति को प्राप्त करता है।

भावार्थ—ये इन्द्रिय—भोगादि महान् दुःखदाई हैं इनको त्याग कर, विरक्ति धारण कर, मुक्ति पद की प्राप्ति के लिये सतत प्रयत्नशील रहना ही मानव मात्र का कर्तव्य है।

अथ सामान्योपदेशमाह—

उपेन्द्रवज्रा छन्द

जिनेन्द्रपूजा गुरुपर्युपास्तिः।
सत्वानुकम्पा शुभपात्रदानं।
गुणानुरागः श्रुतिरागमस्य।
नृजन्मवृक्षस्य फलान्यमूनि ॥९३॥

व्याख्या—नृजन्मवृक्षस्य, मनुष्यजन्मवरो अमूनि फलानि एते कृत्वा मनुजजन्म सफल भवति। अमूनि कानि प्रथम तावज्जिनेन्द्रपूजा श्रीवीतरागदेवस्य पूजा कार्या। पुन गुरूणा पर्युपास्ति सेवा कार्या। पुन सत्वाना जीवाना अनुकंपा दया कार्या। पुन शुभपात्रे

दान देय। पुन गुणेषु अनुराग गुणग्रहणेषु रतिः कार्या। पुनः आगमस्य सिद्धान्तस्य श्रुति श्रवण कार्य। एभि कृत्वा मनुष्यजन्मसफल स्यात् ॥ ६३ ॥

अर्थ—वीतराग जिनेन्द्र देव की प्रतिदिन पूजा करना, दिगम्बर साधुओं की सेवा सुश्रूषा करना, समस्त प्राणियों पर दया का भाव रखना (अर्थात् "आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समा चरेत्"। अपने से विरुद्ध व्यवहार दूसरों के साथ मत करो) जैसे प्रत्येक पुरुष को अपने प्राण प्रिय हैं वैसे ही दूसरे के प्राण समझो। ऐसा ज्ञात कर सब जीवों पर दया की परिणति रखना चाहिये), पात्र सुपात्रों को श्रद्धा पूर्वक दान देना, गुणों में प्रीति करना (गुणवान् धर्मात्मा पुरुषों के अवलोकन मात्र से ही हृदय में हर्ष की लहरी प्लावित हो जाय या यह उठे ऐसा हर्ष प्रगट करना), जैन शास्त्रों का सुनना अथवा शास्त्रों का पठन पाठन मनन आदि अभ्यास करना, ये मनुष्य-जन्म रूपी वृक्ष के फल हैं। इन षट्कर्मों के आचरण करने से ही मनुष्य जन्म की शोभा-शोभाजनक है। मनुष्य जन्म धारण करके यदि उपरोक्त षट्कर्मों का पालन जीवन में नहीं किया तो मनुष्य पर्याय पाना इस प्रकार निष्फल है जैसे कि ऊपर भूमि में बीज-वपन करना (बोना) व्यर्थ है अथवा पाषाण पर कमलों का वन उगाने के समान विफल है। इसलिये प्रतिदिन प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य है कि परस्पर विरोध रहित इन षट्कर्मों के आचरण से अपने जीवन-विटप को हरा भरा बनाये रखें।



शिखरिणीछन्द

त्रिसंध्यं देवार्चां विरचय चयं प्रापय यशः ।
श्रियः पात्रे वापं जनय नयमार्गं नय मनः ॥
स्मरक्रोधाद्यारीन्दलय कलय प्राणिषु दयां ।
जिनोक्तं सिद्धान्तं शृणु वृणु जवान्मुक्तिकमलां ॥९४॥

व्याख्या—त्रिसन्ध्यं त्रिकालं प्रभाते मध्याह्ने सायं च देवार्चां श्रीवीतरागपूजां विरचय कुरु। पुनः यशः कीर्तिचयं वृद्धिं प्रापय। श्रियो लक्ष्म्याः पात्रे सुपात्रे वापं जनय वप। पुनर्मनः चित्तं नयमार्गे न्यायमार्गं प्रति नय। पुनः स्मरक्रोधाद्यारीन् कामक्रोधमानमाया-लोभादीन् अरीन् शत्रून् दलय खंडय। पुनः प्राणिषु जीवेषु दयां कलय कुरु। पुनः जिनोक्तं अर्हत्प्रणीतं सिद्धान्तं सूत्रं शृणु। एतानि कृत्वा जवात् वेगात् मुक्तिकमलां शिवश्रियं वृणु वरय ॥ ९४ ॥

अर्थ—हे भव्य ! प्रातःकाल मध्याह्नकाल और सायंकाल इन तीन कालों में वीतरागदेव की पूजा करो, यशसमूह [कीर्ति को] प्राप्त करो, पात्रों को दान देकर लक्ष्मी का बीज बोओ, मन को न्यायमार्ग में लगाओ, कामक्रोधादि वैरियों को विध्वंस करो, सब प्राणियों पर दया करो, वीतराग देवका कहा हुआ सिद्धांत सुनो और शीघ्र ही मुक्ति रूपी लक्ष्मी का वरण करो।

भावार्थ—आचार्य उपदेश देते हैं कि हे भाई ! अनन्त काल से कठिनता से प्राप्त किये गये इस मनुष्य भव को पाकर ऊपर कहे गये कार्यों को करो ताकि मोक्ष लक्ष्मी तुम्हें शीघ्र ही प्राप्त हो।

शार्दूलविक्रीडितछन्द

कृत्वार्हत्पदपूजनं यतिजनं नत्वा विदित्वागमं ।
हित्वा सगमधर्मकर्मठधिया पात्रेषु दत्वा धनं ॥
गत्वा पद्धतिमुत्तमक्रमजुषां जित्वान्तरारिव्रजं ।
स्मृत्वा पञ्चनमस्क्रियां कुरु करक्रोडस्थमिष्टं सुखं ॥९५॥

व्याख्या—भो श्राद्ध ! एतानि कृत्वा इष्टं वाञ्छितं सुखं करक्रोडस्थं हस्तोत्संगं करप्राप्यं कुरु । किं कृत्वा अर्हत्पदपूजनं वीतरागचरणपूजां कृत्वा । पुनर्यतिजनं साधुजनं नत्वा । पुनरागमं सिद्धान्तं विदित्वा ज्ञात्वा श्रुत्वा । पुनः अधर्मकर्मठधिया पापासक्तबुद्धीनां सगं संसर्गं त्यक्त्वा परित्यज्य । पुनः पात्रेषु निजं धनं वित्तं दत्वा । पुनः उत्तमक्रमजुषां उत्तममार्गसेविनां पद्धतिं मार्गं प्रति गत्वा अनुश्रित्य आन्तरारिव्रजं अंतरंगारिषड्वर्गं आभ्यन्तरवैरिसमूहं जित्वा । पुनः पञ्चनमस्क्रियां नमस्कारमन्त्रं स्मृत्वा ध्यात्वा इष्टसुखं करप्राप्यं कुरु विधेहि ॥ ९५ ॥

अर्थ—हे भव्यात्मन् ! अरिहंत देव के चरण कमलों की पूजा करके, आचार्य उपाध्याय साधुजनों को नमस्कार करके, जिनभाषित शास्त्रों को जान करके, निरन्तर अधर्म कार्य में रत रहने वाले दुष्ट पुरुषों की संगति छोड़ करके, पात्रों में दान देकर उत्तम आचरण के धारी सत्पुरुषों के मार्ग का अनुकरण करके अन्तरङ्ग के रागद्वेष कामक्रोधादि शत्रुओं को जीत करके और 'णमो अरहंताणं' इत्यादि पंच नमस्कार मंत्र का जाप करके इष्ट सुख मोक्ष के सुख को अपने हस्त के मध्य प्राप्त करो ।

हरिणीछन्द

प्रसरति यथा कीर्तिर्दिक्षु क्षपाकरसोदराऽ-
भ्युदयजननी याति स्फीतिं यथा गुणसंततिः ।
कलयति यथा वृद्धिं धर्मः कुकर्महतिक्षमः ।
कुशलसुलभे न्याये कार्यं तथा पथि वर्तनं ॥९६॥

व्याख्या—न्याये न्यायोपपन्ने पथि मार्गे तथा प्रवर्तनं कार्यं प्रवर्त्तिः कार्या यथा चतुर्षु दिक्षु क्षपाकरसोदरा चन्द्रकिरणवदुज्ज्वला कीर्तिः प्रसरति स्फुरति विस्तरति । पुनर्यथा अभ्युदयजननी उदय-कारिका गुणसंतति गुणश्रेणि स्फीतिं याति विस्तारं व्रजति । पुनर्यथा कुकर्महतौ पापहनने क्षमः समर्थो धर्मो वृद्धिं कलयति वृद्धिं प्राप्नोति । तथा न्याये पथि न्यायमार्गे प्रवर्तनं कार्यं । कथंभूते न्याये पथि कुशलैश्चतुरपुरुषैः सुलभ सुप्राप सुखेन लभ्यस्तस्मिन् ॥ ९६ ॥

अर्थ—हे भव्य पुरुष ! जैसे चन्द्रमा की चांदनी के समान निर्मल कीर्ति दशों दिशाओं में फैले, जैसे-स्वर्गादि सुखप्रद गुणों के समूह स्फुरायमान हों, और जैसे खोटे कर्मों का नाश करने में समर्थ धर्म वृद्धि को प्राप्त हो इस प्रकार कल्याण है सुलभ जिसमें, ऐसे न्याय मार्ग में प्रवर्तन करना चाहिये ।

भावार्थ—प्रत्येक पुरुष को ऐसे न्याय मार्ग का अनुसरण करना चाहिये जिससे दशों दिशाओं में उसकी धवल कीर्ति फैले, दोष संतति दूर होकर आत्मा में सम्यक्त्व आदि गुण प्रगट हों, धर्मकी वृद्धि एव प्रभावना प्रगट हो । ऐसा आचार्य श्री का उपदेश है जिसे पालन करना एव अपना जीवन तद्रूप बनाना मनुष्य मात्र का कर्तव्य है ।

शिखरिणीछन्द

करे श्लाघ्यस्त्यागः शिरसि गुरुपादप्रणमनं ।
मुखे सत्या वाणी श्रुतमधिगतं च श्रवणयो ॥
हृदि स्वच्छा वृत्ति र्विजयि भुजयो पौरुषमहो ।
विनाप्यैश्वर्येण प्रकृतिमहतां मंडनमिदं ॥९७॥

व्याख्या—अहो आश्चर्यं प्रकृतिमहतां स्वभावेनोत्तमानां पुंसा ऐश्वर्येण साम्राज्येन विनापि इदं मडनं अस्ति इदमिति किं। करे हस्ते त्यागो दानं श्लाघ्यो मंडनं न कंकणादि। पुनः शिरसि गुरूणां पादयोश्चरणयो प्रणमनं नमस्कारकरणमेव मंडनं न मुकुट तिलकादीनि। मुखे सत्या वाण्येव मंडनं न ताम्बूलादि। श्रवणयो कर्णयोः अधिगतं पठितं श्रुतं शास्त्रमेव मंडनं न कुंडलादि। हृदि हृदये स्वच्छा निर्मला वृत्ति व्यापार एव मंडनं न हारमालादि। भुजयो बाह्वोर्विजयि जयनशीलं पौरुषं पराक्रमो धर्मविषये यद्बलं तदेव मंडनं न केयूरादि। महतां पुंसा धनं विनापीदमेव मंडनं ॥९७॥

अर्थ—हाथोंमें प्रशंसनीय दान, मस्तक में निर्ग्रंथ गुरुओं के चरणकमल को नमस्कार, मुख में सत्य वचन, कर्णों में प्राप्त हुआ शास्त्र ज्ञान, हृदय में निर्मल विचार और भुजाओं में सबको विजय करने वाला पुरुषार्थ, अहो बड़ा आश्चर्य है कि सज्जन पुरुषों का यह भूषण ऐश्वर्य बिना ही होता है।

भावार्थ—सज्जन पुरुष स्वभाव से ही अपने हाथों से दान देते हैं। दिगम्बर निर्ग्रंथ गुरुओं के चरणारविन्द को विनय पूर्वक मस्तक से नमस्कार करते हैं मुख से सदा सत्य भाषण करते हैं,

कर्णों से पवित्र जैनसिद्धान्त के शास्त्रों का श्रवण करते हैं, जिसके हृदय में सर्वदा निर्मल विचार धारा प्रवाहित रहती है और जिनकी भुजाओं में सच्चे विषयी पुरुषार्थ विद्यमान रहता है। ऊपर कहे गये यही कार्य सज्जन पुरुषों के आभूषण हैं। अन्य सोने चांदी के आभूषण तो कहने मात्र के हैं उनसे मनुष्य जन्म की शोभा नहीं है और न उनसे आत्मा का उत्थान होता है। अत सज्जन महा पुरुषों के उपरोक्त गुण उपादेय हैं, उन्हीं से आत्माओं का कल्याण हुआ है और होगा।

शिखरिणीछन्द

भवारण्य मुक्त्वा यदि जिगमिषुर्मुक्तिनगरीं।
तदानीं मा कार्षीं विषयविषवृक्षेषु वसतिं॥
यतश्छायाप्येषां प्रथयति महामोहमचिरा-।
-दयं जन्तुर्यस्मात्पदमपि न गन्तुं प्रभवति॥९८॥

व्याख्या—भो भव्य! यदि चेद् भवारण्य संसाररूपा अटवीं मुक्त्वा त्यक्त्वा मुक्तिनगरीं सिद्धिपुरीं प्रति जिगमिषुरसि गन्तुकामोऽसि तदानीं त्वं विषयविषवृक्षेषु विषया एव विषवृक्षास्तेषु वसतिं निवासं मा कार्षीः मा व्यधाः कुत यस्मात् कारणात् एषां विषयविषवृक्षाणां छायापि महामोहं महदज्ञानं प्रथयति विस्तारयति। यस्मात् महामोहादयं जन्तु प्राणी अचिराद् वेगात् पदमपि गन्तुं एक पादमपि चलितुं न शक्नोति किन्तु स्थावरत्वं प्राप्नोति॥ ९८॥

अर्थ—हे भव्य! यदि तू संसार रूप भयंकर वन को छोड़कर मुक्ति रूपी नगरी के प्रति गमन करने की इच्छा करता है तो इंद्रियों

के विषय रूपी विष वृक्षों पर निवास मत कर। क्योंकि इन विषय रूपी वृक्षों की छाया भी शीघ्र ही महामोह को उत्पन्न कर देती है। जिस महान मोहमें फँसकर प्राणी एक पैर भी आगे नहीं चल सकता।

भावार्थ—इन्द्रियों के विषय विष वृक्षों के समान हैं। इनको सेवन करने वाला या इन विषयों में अ घा हुआ [अनुरक्त हुआ] प्राणी कदापि मोक्ष पद प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिये मुमुक्षु [मोक्ष प्राप्त करने के इच्छुक] भव्य पुरुष को कदापि इन विषय वासनाओं का सेवन [ससग] नहीं करना चाहिये कि तु इन विषयों को किम्पाक [कि दूरी] फल समान जान कर त्याग करने का ही लक्ष्य रखना चाहिये। और उस लक्ष्यकी सिद्धिमें अनेकों सकटों का सामना भी करना पड़े तो भी उसकी परवाह न करके सतत प्रयत्न-शील रहना चाहिये। तथा आत्म-निर्भर होकर एव सहिष्णु बन कर उन सकटों-आपत्तियों को समताके साथ सहन करना चाहिये। जब तक इस मार्ग का अनुसरण नहीं किया जायगा तब तक कदापि कोई भी पुरुष अपने लक्ष्यकी सिद्धि तक नहीं पहुँच सकेगा यह एक निश्चित सिद्धा त है। इसी में प्रत्येक प्राणी का कल्याण निहित है। आधुनिक भौतिकवाद विचार के लोग भले ही उस मुमुक्षु को बुरा बतावें, उसकी नि दा करें, उसे कायर कहें या मार्ग-शिथिलता के अनेकों प्रलोभन प्रदशन करें परन्तु उस दूषित वातावरण की ओर दृष्टिपात न करके अपने लक्ष्य की सिद्धि में आगे बढ़ता ही चला जावे।

अमितगति श्रावकाचार में आचार्य अमितगति ने कितना स्पष्ट प्रतिपादन किया है —

मूर्खापवादव्यसनेन धर्मं,
मुञ्चन्ति सन्तो न बुधार्चनीयम्।
यतो हि दोषः परमाणुमात्रो,
धर्मव्युदासे गिरिराजतुल्यम्॥

आशय यह है कि अज्ञानियों द्वारा अपवाद किये जाने पर एवं पीड़ित किये जाने पर भी सज्जन मुमुक्षु पुरुष अपने लक्ष्यभूत धर्म को कभी नहीं छोड़ते क्योंकि वर्तमान समयका दुःख तो परमाणु मात्र है जो कि नहीं के बराबर है किन्तु परके अपवादादि से धर्म को छोड़ देने में सुमेरु पर्वत तुल्य नर्क निगोद के दुःखों को भोगना पड़ता है जिसमें असंख्यात अनन्त भव दुःखों में ही व्यतीत होते हैं। इसलिये धर्म मार्ग में सदा कटिबद्ध दृढ़ रहना चाहिये। और भी अमितगति आचार्य ने कहा है —

सर्वेऽपि भावाः सुखकारिणोऽमी।
भवन्ति धर्मेण विना न पुंसाम्॥
तिष्ठन्ति वृक्षाः फलपुष्पयुक्ताः।
कालं कियन्तं खलु मूलहीनाः॥

संसार में जितने पदार्थ सुखकर प्रतीत होते हैं या सुखदाई देखे जाते हैं उन सब का एक मात्र कारण धर्म सेवन ही है, धर्म सेवन के फल से ही सब सुख के साधन सुलभता से उपलब्ध होते हैं एवं सदा सुखकर सामग्री का समागम बना रहता है। बिना

धर्म पालन के पापरूप प्रवृत्ति से कोई भी पदार्थ सुखकर सिद्ध नहीं हो सकता जैसे कि फल फूल पत्ते वाले वृक्ष जिनकी कि जड़ें काट दी गईं वे कितने समय तक हरे भरे रह सकते हैं ? किन्तु किंचित्काल के पश्चात् ही वे मुरझाकर शोभाविहीन विरूप प्रतीत होने लग जाते हैं। इसी प्रकार धर्मश्रद्धा रहित प्राणी के लिये कोई भी पदार्थ सुखकर नहीं हो सकता। उसके लिये तो सारा संसार शून्य अन्धकारमय हो जाता है। इसलिए जो भव्य पुरुष धर्म की रक्षा करते हैं धर्म को श्रद्धापूर्वक धारण करते हैं। सर्वत्र उनकी रक्षा करने वाले सैकड़ों हजारों साधन सुलभता से अनायास ही आकर प्राप्त हो जाते हैं। अतः धर्म से बढ़ कर कोई श्रेष्ठ पदार्थ सेवा योग्य नहीं है, धर्म ही जीवन का प्राणधार है, सर्वाधार है और सब असार है ॥६८॥

इन्द्रवज्राछन्द

सोमप्रभाचार्यप्रभा च लोके ।
वस्तुप्रकाशं कुरुते यथाशु ॥
तथायमुच्चैरुपदेशलेशः,
शुभोत्सवज्ञानगुणांस्तनोति ॥ ९९ ॥

व्याख्या—यथा येनप्रकारेण लोके भुवने सोमप्रभा, चन्द्रप्रभा, आचार्य प्रभा, आचार्य प्रतिमा च आशु शीघ्रं वस्तुप्रकाशं घटपटादिपदार्थप्रकाशं कुरुते विदधाति तथा तेन प्रकारेण अयं श्रूयमाण उपदेशलेशः सूक्तिमुक्तावलिरूप समुपदेश उच्चैः उत्कृष्टान् शुभोत्सव

ज्ञानगुणान् कल्याणप्रदज्ञानगुणान् तनोति विस्तारयति अत्र श्लेषेण ग्रन्थकर्त्रा 'सोमप्रभाचार्य' इति स्वनामापि सूचितम् ॥ ९९ ॥

इति सामान्यप्रक्रम

अर्थ—जिस प्रकार लोक में चन्द्रमा की प्रभा और आचार्यों की प्रभा [प्रतिभा] शीघ्र ही वस्तुओं [पदार्थों] का ज्ञान कराती है उसी प्रकार यह आदर्श स्वरूप किञ्चित् आचार्य का उपदेश भी अनेकों शुभ कल्याण तथा ज्ञानादि गुणों का विस्तार करनेवाला है। अत भव्यात्माओं का कर्तव्य है कि श्रद्धापूर्वक इस उपदेश को हृदयङ्गम करें।

अथ प्रशस्तिमाह

मालिनीछन्द

अभजदजितदेवाचार्यपट्टोदयाद्रि- ।
द्युमणिविजयसिंहाचार्यपादारविंदे ॥
मधुकरसमतां यस्तेन सोमप्रभेण ।
व्यरचि मुनिपराज्ञा सूक्तिमुक्तावलीय ।१००।

व्याख्या—तेन सोमप्रभेण मुनिपराज्ञा मुनिपा मुनिभिस्तेषां राजा सूरीश्वरस्तेन मुनिपराज्ञा सूरीश्वरेण इय सूक्तिमुक्तावली सुक्ता येव सुभाषितान्येव 'शोभनप्रस्तावकान्यान्येव मुक्ता मौक्तिकानि मुक्ताफलानि तेषां आवली' श्रेणिर्व्यरचि रचिता तेन केन य सोमप्रभ अजितदेवनामाचार्यस्य पट्ट एव उदयाद्रिरुदयाचल तत्र द्युमणि सूर्यसमान विजयसिंहाचार्यस्तस्य पादारविंदे चरणकमले

मधुकरसमता भ्रमरतुल्यता अभवत् अप्राप्त। पूर्वं अजितदेवाचार्यं स्तत्पट्टे विजयसिंहाचार्यस्तत्पट्टे सोमप्रभाचार्यास्तेनेय सिंदूरप्रकर-नामसूक्तिमुक्तावली व्यरचि कृता॥ १००॥

सोमप्रभसूरिणा विरचिता सूक्तिमुक्तावली समाप्ता।

अर्थ—जो अजितदेव आचार्य के पट्टरूपी उदयाचल पर सूर्य समान विजयसिंह आचार्य के चरण रूपी कमलों में भ्रमर की समता करता था (अर्थात् चरण कमलों का सेवक था) उस सोम-प्रभ आचार्य ने यह सूक्तिमुक्तावली (उत्तम वचन रूप मोतियों की माला) नामक ग्रन्थ रचा।

नोट—[१]इति श्रीसिंदूरप्रकराख्यस्य व्याख्याया हर्षकीर्तिभि सूरिभि र्विहिताया सामान्यप्रकमोऽजनि।

समाप्तोऽयं ग्रन्थ।

१ प्रत्येक प्रकरण की समाप्ति पर यह पुष्पिका वाक्य है।

---

१०६ पृष्ठ का यह ८१ वाँ श्लोक है—

पात्रे [१]धर्मनिबन्धनं तदितरे[२], श्रेष्ठ दयाख्यापकं।
मित्रे प्रीतिविवर्धनं रिपुजने, वैरापहारक्षमं॥
भृत्ये भक्तिभरावहं नरपतौ सन्मानसंपादकं।
भट्टादौ सुयशस्करं [३]वितरणं, न क्वाप्यहो निष्फलं॥८१॥

इति दान प्रक्रम

१ धर्मस्य कारणं २ अपात्रे ३ दानं विहितं दत्तं सत्।

श्रीमकलकीर्त्याचार्यविरचिता

पञ्चपरमेष्ठिस्तुतिः

नाभेयादिजिनेश्वरान् मुनिनुतान् नाकाधिपैः पूजितान् ।
अन्तातीतगुणार्णवान् सुविमलान् विश्वप्रकाशात्मकान् ॥
संसाराम्बुधितारकान् भवभृतां बन्धूपमान् स्वामिनः ।
वन्दे तद्गुणहेतवेऽत्र शिरसा मुक्त्यङ्गनारागिणः ॥ १ ॥

अखिलभुवनसेव्यान् सर्वलोकाग्रभूस्थान् ।
निरुपमसुखयुक्तांस्त्यक्तसंसारदुःखान् ॥
चरमसुगुणभूपान् ज्ञानदेहान् विशुद्ध्यै ।
अचलविभवपूर्णान् संस्तुवे सिद्धिनाथान् ॥ २ ॥

पञ्चाचारमपारसौख्यसदनं ये प्राचरन्ति स्वयं ।
शिष्याणां मुनिनायकाः शिवकरा आचारयन्त्येव च ॥
तेषां पादसरोरुहान्, भवहरा–नाचारशुद्ध्यै सदा ।
सूरीणां प्रणमामि भक्तिसहितो मूर्ध्नाऽघशान्त्यै मुदा ॥ ३ ॥

ये पठन्ति सकलागममेव, पाठयन्ति शिवदं वरशिष्यान् ।
ते स्तुता मम दिशन्तु गुणौघान्, पाठकाः स्वकृपयात्मभवाश्च ॥४॥

ये साधयन्ति चरणं सुखरत्नवार्धिं ।
दृग्ज्ञानशुद्धमनिशं विविधं च योगं ॥
आतापनादिजमपीह दिशन्तु ते मे ।
श्रीसाधवोऽत्र नमिताः स्वगुणान् गरिष्ठान् ॥५॥

अर्हन्तस्त्रिजगद्बुधार्चितपदाः सन्मुक्तिभुक्तिप्रदाः ।
सिद्धा येऽष्टगुणाङ्किता अवपुषो ये सूरयोऽध्यापकाः
पञ्चाचारपरायणाश्च निपुणाः श्रीसाधवो निःस्पृहाः
ते वन्द्याश्च मयाऽखिला निजगुणान् सर्वान् प्रदद्युर्मम ॥६॥

इति पञ्चगुरुस्तुतिः

१०८ श्रीआचार्यकल्प श्रीश्रुतसागरस्तुतिः

सिद्धान्तवेदी श्रुतपारगो य, वाग्मी पटु सत्त्रयरत्नधारी।
अकिञ्चन शीलगुणाकरश्च, नमाम्यहं श्रीश्रुतसागरं त ॥ १ ॥
स्वाध्यायनिष्ठो यमिना वरिष्ठ श्रेष्ठो विरागी महता महिष्ठ।
ज्येष्ठो मुनीशो गुणिना गरिष्ठ ईडे सदा त महिमाविशिष्ट ॥ २ ॥
त्यक्त्वा सुपुत्रादि कुटुम्बिवर्गान् धर्मानुकूला रमणीमनिन्द्या।
श्रीवीरसिन्धु गुरुमाप मोदाद् दीक्षा श्रितो जातजिनेन्द्ररूपा ॥ ३ ॥
श्वेताम्बरे धर्मकुले सुजन्म दैगम्बरे धर्मपथे दृढीयान्।
दिग्वस्त्रमोक्षपथानुरागी वन्दे मुनीन्द्र श्रुतसागर त ॥ ४ ॥
नित्य हि सूरेरनुकूलवृत्ति कुर्वस्तथासौ खलु सूरिकल्प।
त्यागी सदाध्यात्मिकबोधनिष्ठ जीवाद्दसौ वर्षशत पृथिव्या ॥ ५ ॥
भव्याब्जनीना स विभास्वर सन् मता श्रुताम्भोनिधिपूर्णचन्द्र।
विवादिनागर्वविखण्डनाय स्याद्वादवाग्रश्मियुत स्तुवे त ॥ ६ ॥
अध्यात्ममूर्ति किल सयमी च य सद्धयध्यान्तहरो विवस्वान्।
योगी सदानिश्चयतत्त्वविच्च स्तुवेऽपि त सद्व्यवहारविज्ञ ॥ ७ ॥
नयाभिनैर्वाग्भिरतीवदक्षै रचनासभाया खलु लब्धकीर्ति।
युक्त्या महत्या स्फुटयत्यशेष तत्त्व श्रुताब्धि तमह प्रवन्दे ॥ ८ ॥
वात्सल्यमूर्तिश्च कृपापयोधि सघे गरीयान् किल साधुवर्गे।
साध्वीश्च श्राद्धान् मृदुमिष्टवाक्यै सन्तोपयत्त शिरसा नमामि ॥ ९ ॥
नमोऽस्तु ते धर्मधुरधराय नमोऽस्तु ते भव्यहितकराय।
नमोऽस्तु ते बोधिसमाधिभाजे नमोऽस्तु ते साधुगणार्चिताय ॥ १० ॥

नमोऽस्तु मुनिवर्य। ते सकलतापहृच्चन्द्रमा।
नमोऽस्तु गुरुवत्सलत्व गुणरत्ननिधये च ते ॥
क्रियाद्धि जगता शिव मधुरवाक्सुधा वर्षयन्।
पुनातु भविना मन शुचिचरित्रपूतो भवान् ॥
मया सस्तूयते नित्य श्रुतसिन्धुर्मुनीश्वर।
कुर्याच्छिव सुभव्याय मह्य च जगतेऽपि च ॥

श्लोकानामकाराद्यनुक्रमः

टीकागतश्लोकानुक्रमणिका

टीकाकर्तुः प्रशस्तिः

तपोगणे नागपुरीयपूर्वे श्रीचन्द्रकीर्त्याह्वयसूरिराजा ।
तेषां विनेयर्षभहर्षकीर्तिसूरीश्वरो वृत्तिमिमामकार्षीत् ॥

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	प०	अशुद्ध	शुद्ध
१	८	सद्गरूणा	सद्गुरूणा
१	११	श्रोतृन्	श्रोतृन
२	११	ज्ञान	ज्ञान
२	११	प्रारभे	प्रारम्भे
३	१६	यानय	यानया
७	५	अथनर	अथपुनर्नर
९	२	निद्रा	निद्राग्नेह
९	१०	ऐन्धभार	एधभार
९	१७	माचरता	माचरता च
१०	१६	काचरखण्ड	काचखण्ड
१०	२१	माराधयता	माराधयता च
१०	२०	श्रीधर्मं	श्रीजिनधर्मं
१२	१	श्रीधर्मं	श्रीजिनधर्मं
१२	११	द्वारेण	द्वार
१२	२०	भक्ति	भक्ति
१४	४	भक्तिपूजाद्वार	भक्तिद्वार
१४	१०	भव्य	भव्य !
१४	२०	कुर्वता	कुर्वता च
१९	१२	यो	पुनर्यत्र श्रीजिनं
१९	१९	जिनपूजा	जिनपूजास्तुति
१९	१९	पूजाविधिस्तुति अनेन	पूजास्तुतिविधि तु आगमाम्नायात् तेनैव
१९	२१	यावद्य	यावद्य
२१	४	सेवमानाना	सेवमानाना सदा
२३	१०	पक्ष	पक्षमूतो
२३	११	पवन्त	पवन्त सन्त

पृष्ठ	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
२३	१४	भधम	अधम
२३	१८	च	च सता
२५	१	स्वल्पफल	स्वल्पफल
२४	२३	गुरो	गुरो शासन भवनाशन मसार परिभ्रमणवारण यतोयेनैकन
२६	६	न विलोक्ते	पुन किं न विलोक्ते अदेव कुदेव
२६	६	पुन	पुन किं न विलोक्ते
२६	१०	पुन·	पुन किं न विलोक्ते
२६	१०	कुगुरु	कुगुरु
२६	११	पुन	पुनः किं न विलोक ते
२६	१२	पुन	पुन किं न विलोक्ते
२६	१३	पुन	पुन किं न विलोक्ते
२६	१४	पश्यति	पश्यति
२६	१४	पुन	पुन· किं न विलोक ते
२६	१५	पुन	पुन किं न विलोक्ते
२६	१६	सचातुय	सुचातुर्यं
२६	१७	हित	हित सुख
२६	१७	सुखकारण	सुखकारण च
२६	१७	च	दुःख
२६	१७	अशुभकारण	दुःखकारण
२६	१८	कुर्वता	तच्छ्रवण कुर्वता
२७	१६	श्रुत	श्रुत किं विशिष्ट समय दयारसमय दया कृपा एव रसो गुण स्तेन निमितो यो स दयारसमयो दयागुण प्रधान इत्यथ

पृष्ठ	प०	अशुद्ध	शुद्ध
२८	३	माव	भाव
२८	१०	कुर्वता	तन्ङ्गीकार कुर्वता
३०	३	धमस्य	धर्मस्य
३०	७	मिथ्यामति	मिथ्यामति
३०	८	तनोति	वितनोति
३०	११	प्रणीतसिद्धान्त	श्रीजिनप्रणीतसिद्धान्त
३०	१२	आराधयता	सदाराधयता
३१	१६	इति	भो भव्यप्राणिन् ! इति
३३	३	च	च मता
३४	१०	रभमा	रभसाद्
३४	१२	उत्कठ	उत्कण्ठया
३४	१४	त	त जिन
३५	१०	कृत	कृत्वा
३५	१६	यस्मिन्	तस्मिन्
३६	८	सत्त्वेषु	सर्वसत्त्वेषु
३६	८	मित्यय	मित्याह
३६	१२	क्लेशे	क्लेशै
३६	२२	पुन कथमूता त्रिदि-यौकस नि श्रे णि	त्रिदिवास्वर्ग एव ओको गृह तस्य नि श्रे णि सौपानपक्ति
३७	२२	उदयति	उदयते
३७	२२	पुन	पुन यदि
३८	३	प्रसूयते	प्रसूते
३८	२१	तथा	तथा उरगवक्त्रादमृत सर्पमुखात् पीयूषमभिलषति
४०	६	स्वामित्व	तथा स्वामित्व

पृष्ठ	प०	अशुद्ध	शुद्ध
४०	११	सर्वे	सर्वेषु
४२	६	पुनरसत्यवचनस्य	अथासत्यवचनस्य
४२	१३	तत् किं	तत किं
४४	३	सत्यमेव	सत्यमेव वच
४५	२	वाञ्छति	वाञ्छति
४६	३	रिक्तत्वादि	रचितत्वादि
४७	२०	दौर्गत्यैक	दौर्गत्येक
४८	४	सर्वागस	सर्वागसि
४८	८	विरचित	विरचित कृत
४८	१७	अदत्त	अदत्त द्रव्य
४९	१०	पुरार्गला	पुरार्गल
५२	३८ वें श्लोक का अर्थ ३९ वें में ३९ वें का अर्थ ३८ वें पर पढ़ें		
५५	१७	अविलत्व	आविलत्व
५८	१३	विविक्तमना	विरिक्तात्मना
५९	१३	घनैरपि	घनै
५९	१४	द्रव्य	द्रव्यै
६०	२१	सप्ताच्चिषो	सप्तार्चिषो
६१	१	सोदरोग्ने	सोदरो
६१	१	चैतनस्य	चैत यस्य
६१	२	विना सह भोगशिने	विनाशने
६४	६	मोचित्य	मौचित्य
६४	१०	कष्टारूप	कष्टरूप
६६	२०	विक्षपन्	विक्षिपन्
६६	२१	विनयनय	विनयवन
६७	१	न्यायश्रेणि	वनश्रेणि
६७	२१	विलम्पति	विलुम्पति

पृष्ठ	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
६८	३	मत्तगनो	मतङ्गज
७१	६	सुग्यान्	सुखाद्
७१	१०	सुलान्	सुलात
७२	३	मुञ्जहीते	मुज्जिहीते
७४	१६	कपण छेत्रादि	छेत्रादिकर्षण
७५	१७	राजघटा त	गजघटान्त
७४	१८	मर्पति	मपन्ति
७५	१८	लिङ्गत्व	लिङ्गत्वान्नपु सकत्व
७५	२०	अरणीकाष्ट	अरणि काष्ठ
८१	६	चरितात्मना	चरितार्जिता
८१	१७	—	न तु न
८१	१७	शेफाजाता	शेफसजाता
८४	१	गुणसङ्ग	निर्गुणिसङ्ग
८४	४	शमद्या	शमदयै
८५	४	अल्पमेधा	अल्पमेध'
८४	१६	तथा	अत
८५	१७	व्यख्या	व्याख्या
८६	२०	तसदा	तर्हि त्व
८६	२१	विचरतु	विचरितु
८७	१	पुण्य समाधेविनु समीहसे	×
		कथ	न कथमपि
८८	६	निर्गुणसङ्ग	निर्गुणिसङ्ग
८८	१२	निगुणसगम	निगुणिसङ्गम
८९	१५	×	मम हृदय च पक्षिर
			आद मुनिभिरानीत
			स च नीतो यथाहं
९२	१२	विधिप्रागल्भ्य	विधिप्रागल्भ्य

पृष्ठ	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
९२	१७	पर	×
९४	६	कुमते	कुपथे
९५	६	कुत्सितमते	कुत्सितपथे
९५	१४	सुखे	×
९५	१५	अधसा	अधसा
९५	१५	दत्ते	धत्ते
९८	१७	खेद	×
१०३	२६	भिय	भिया
१०४	४	परिभवन	परिभवो
१०८	११	सादेश	सपदेय
११८	१०	ससारहितो	समारहितो
११८	१२	धधन	धधने
११८	१५	विरतिरमणी	विरति
११८	१५	देशविरति	सर्वदेशविरति
११८	१५	एव	×
११९	१३	मेघघटात	मेघसमूह
१२१	१३	स्यात्	भवेत्
१२४	१	गुणमहणेण	गुणमहणे
१२५	७	यश	यशश्चय

